हैं, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रमका हो। (ख)—*'जो न होई'''''।'* *'सोई'* का भाव कि किसी वर्ण या आश्रममें हो और उनके धर्मसे युक्त हो, लौकिक धर्म सब करता हो, पर तो भी परमधर्म हरिभक्तिसे विहीन है; इससे शोचनीय है। (ग) छल क्या है? यथा—*'बंचक भगत कहाइ रामके। किंकर कंचन कोह कामके॥'* (१। १२। ३) *'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।'* (३००। २) *'होइ अकाम जो छल तजि सेइहि।'* *' मेरे जान जब ते हौं जीव होइ जनम्यों जग तब ते बेसाह्यो दाम लोभ कोह काम को। मन तिनहीं की सेवा तिनही सो भाव नीको,बचन बनाइ कहौं हौं गुलाम राम को॥'* (क० उ० ७०) पुनः, औरका भरोसा रखना, औरोंसे प्रयोजन जानना, औरोंको बन्धुवर्ग मानना छल है (रा० प्र०) यथा—*'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ'''''।'*

(घ) दूसरा अभिप्राय यह भी निकलता है कि वर्णाश्रम-धर्ममें एक ही एकका अधिकार है—**'परधर्मो भयावहः'**; और हरिजन होनेमें सबका अधिकार है, यथा—*'पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥'* (उ० ८७) जैसे सब व्यंजनोंको लवण शोभित करता है, वैसे ही सब धर्मोंको हरिभक्ति सुशोभित करती है। इसके बिना सब धर्म अशोभित हैं—*'लवन बिना बहु बिंजन जैसे।'*

पंजाबीजी—जो किसीमें दोष भी हो तो वह भगवत्-शरण होनेसे पवित्र हो जाता है; अतएव जो हरिविमुख हुआ वह परम शोचनीय है।

सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥५॥
भएउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥६॥
बिधि-हरि-हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥७॥

दो०—कहहु तात केहि भाँति कोउ करिहिं बड़ाई तासु।
राम लखन तुम्ह सत्रुहन सरिस सुअन सुचि जासु॥१७३॥

अर्थ—कोसलराज श्रीदशरथजी शोच करने योग्य नहीं हैं। चौदहों लोकोंमें उनका प्रभाव प्रकट है॥५॥ भरत! जैसे तुम्हारे पिता थे ऐसा राजा न तो हुआ, न है और न होनेवाला ही है*॥६॥ विधिहरिहर, इन्द्र और लोकपाल सभी श्रीदशरथजीके गुणोंकी गाथा (कथा) वर्णन करते हैं अर्थात् गुणानुवाद गाते हैं॥७॥ हे तात! तुम्हीं कहो, किस प्रकार कोई भी उनकी बड़ाई कर सकता है जिनके राम, लक्ष्मण, तुम और शत्रुघ्न-सरीखे पवित्र पुत्र हैं†॥१७३॥

नोट—१ *'सोचनीय नहिं कोसलराऊ'* इति। अब प्रसंग मिलाते हैं। *'सोच जोग दसरथ नृप नाहीं।'* (१७२। २) उपक्रम है और *'सोचनीय नहिं कोसलराऊ'* उपसंहार।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—बस, इतना ही कहनेके लिये यह प्रसंग उठाया था। वसिष्ठजीने भरतजीके हृदयमें पिता-मरणका ही शोच निश्चय किया, इसीसे वे इस प्रकार समझा रहे हैं। श्रीरामवनगमनका सोच जो भरतजीको है उसपर उनकी दृष्टि नहीं है; क्योंकि उसकी यहाँ सम्भावना नहीं, राज्यके वास्ते परस्पर भाई-भाई विरोध करते ही हैं तो रामके वनगमनका सोच क्यों करेंगे? अतएव उन्हें पिताके ही शोचसे निवृत्त कर रहे हैं। (पर मेरी समझमें बात ऐसी नहीं है। श्रीवसिष्ठजी त्रिकालज्ञ हैं। जानते हैं कि आगे क्या होगा। उन्होंने बड़ी युक्तिसे भाषणका इस प्रकार आरम्भ किया। महाराजकी आज्ञाका पालन करनेको कहना है। लोकरीत्यनुसार प्रथम राजाके मरणके शोकके सम्बन्धमें कहते हुए राजाकी बड़ाई करके उनकी आज्ञा सुनायी। आगे *'सौंपेहु राजु रामके आए'* से यह भी स्पष्ट कर दिया कि तुम्हारे हृदयमें जो शोक

* भाविक अलङ्कार।
† सम्बन्धातिशयोक्ति।

है और आगे जैसा होना है वह भी हम जानते हैं, अतः वही उपदेश कर रहे हैं। प्रजाको जो इनकी ओरसे शंका है, उसकी निवृत्ति भी करना है।)

३ पं०—भाव कि जो दोष ऊपर दिखा आये वे कोई इनमें नहीं हैं।

नोट-२—*'भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ'* इति। (क) भाव कि अपयशी जीते-जी ही शव-(मुर्दे-) के समान है और जिसका जगत्‌में यश है वह मृतक नहीं है। फिर जगत्‌की कौन कहे, इनका यश तो चौदहों भुवनोंमें है। (पु० रा० कु०) (ख) चौदहों भुवनवासी उपर्युक्त दोष उनमें नहीं बताते वरन् सब उनके प्रभावको ही कहते हैं। (रा० प्र०)

नोट—३ *'बिधि-हरि-हर सुरपति दिसिनाथा'''''* इति। (क) ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, वरुण और कुबेर आदि सब अपने-अपने लोकोंमें दशरथजीके यशका गान करते हैं। इस कथनका आशय यह है कि जब बड़ा भारी यश होता है तभी ये लोग वर्णन करते हैं, नहीं तो ये तो आप ही बड़े हैं दूसरेकी बड़ाई क्यों करते? (पु० रा० कु०)। (ख) ब्रह्मा वृद्धिशक्तिमें, विष्णु पालनशक्तिमें, हर शत्रुसंहारशक्तिमें, इन्द्र राज्यसुखभोगमें और चारों दिशाओंकी प्रजाके रक्षण-पालन-पोषणशक्तिमें दिक्‌पाल राजाके गुणसमूहका वर्णन करते हैं। (रा० प्र०, शीला) (ग) 'मनु रूपका साहस देख ब्रह्मादि सराहते हैं कि जो रूप योगियोंके ध्यानमें अगम था उसे उन्होंने पुत्ररूपमें पाया और रामयशके साथ इन्द्रादि गाते हैं। वा, लोकोपकारमें उदार हैं यह गुण सब गाते हैं।' (खर्रा)

नोट—४ *'कहहु तात केहि भाँति कोउ'''''* इति। यथा—*'जिन्हहि बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवध राम पितु माता॥'* (१।१६।८) (ख) भगवान्‌के अवतारसे बड़ाई कई जगह लोगोंको मिली। आदितिजीको वामनजीसे, देवकी-वसुदेवजीको भगवान् कृष्ण-बलरामसे बडाई प्राप्त हुई और यहाँ तो चार हैं। (पु० रा० कु०) (ग) राजा स्वयं शुचि थे तभी तो ये चारों शुचि हुए। (घ) लक्ष्मणजी इस समय रघुनाथजीके समीप हैं; इसीसे यहाँ इस कथनमें भी कविने उन दोनोंको पास रखा।

सब प्रकार भूपति बड़भागी। बादि बिषादु करिअ तेहि लागी॥ १॥
एहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु करहू॥ २॥
राय राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥ ३॥
तजे रामु जेहि बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥ ४॥
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवाना॥ ५॥

अर्थ—राजा सब तरहसे बड़े भाग्यवान् थे। उनके लिये व्यर्थ विषाद करना है॥ १॥ यह सुन-समझकर शोच त्यागो और राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके (मानकर) तदनुसार कार्य करो॥ २॥ राजाने तुमको राज्यपद दिया है। (तुम्हें) पिताका वचन सत्य करना चाहिये कि जिस वचनहीके लिये उन्होंने श्रीरामजीको त्याग दिया और रामविरहकी अग्निमें अपना शरीर भी छोड़ दिया॥ ३-४॥ राजाको वचन प्रिय थे, प्राण प्रिय न थे। (इसलिये) हे तात! पिताके वचनोंको प्रमाणित करो। अर्थात् इसे करो जिसमें वे सत्यप्रतिज्ञोंमें प्रमाण माने जायँ, ये वचन साधारण नहीं हैं कि टाल दिये जायँ॥ ५॥

नोट—१ *'सब प्रकार भूपति बड़भागी।'''''* इति। 'सब प्रकार' अर्थात् केवल ऐसे पुत्रोंके जन्मसे ही नहीं वरन् जाति, कुल, वैभव, धर्म-कर्म आदि तथा श्रीरामविरहमें मरण इत्यादि सभी प्रकारसे। इतना करनेपर शोक दूर न देख कहते हैं कि *'एहु सुनि समुझि'* अर्थात् हमारा वचन सुनकर, मनमें विचारकर शोच छोड़ो।

नोट—२ *'राय राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु''''''* इति। (क)—पूर्व *'राज रजायसु'* कहा, यहाँ 'पितावचन' पद दिया। भाव कि एक तो यह राजाकी आज्ञा है और उसपर भी यह पिताकी आज्ञा है, दोनों तरहसे तुमको माननीय है। वा, (ख) राजाकी आज्ञा भंग न करना चाहिये यह कहकर फिर बताया कि वह आज्ञा क्या है—*'राजपदु दीन्हा।'* यह कहकर फिर 'पितावचन' की गुरुता दिखाते हैं कि *'तजे

रामु जेहि बचनहि लागी।''''' यथा—*'तुलसी जान्यो दसरथहि, धरम न सत्य समान। राम तजे जेहिं लागि, बिनु राम परिहरे प्रान।'* (दो० २१९) राजाको वचन इतना प्यारा था कि श्रीरामको त्याग दिया पर वचनको न त्यागा। अतएव पिताके वचनोंको सत्य करो। उनके वचनका गौरव देखो और समझो। ऐसे वचनका उल्लंघन न करना चहिये।

करहु सीस धरि भूप रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥६॥
परसुराम पितु अग्या राखी। मारी मातु लोक* सब साखी॥७॥
तनय जजातिहि जौबनु दयेऊ। पितु अग्या अघ अजसु न भयेऊ॥८॥
दो०—अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं† पितु बयन।
ते भाजन सुख सुजसु के बसहिं अमरपति अयन॥१७४॥

शब्दार्थ—राखी=पालन किया, रक्षा की, मानी।

अर्थ—राजाकी आज्ञा सिरपर धरके करो अर्थात् आदरपूर्वक आज्ञा पालन करो। (इसमें) तुम्हारी सब तरहसे भलाई ही है॥६॥ सब लोग इसके साक्षी हैं कि परशुरामने पिताकी आज्ञा मानी, माताको मार डाला॥७॥ राजा ययातिके पुत्रने ययातिको अपनी जवानी दे दी। पिताकी आज्ञाके कारण उनको पाप और अपयश नहीं हुआ॥८॥ उचित-अनुचितका विचार छोड़कर जो अपने पिताके वचनोंका पालन करते हैं वे (लोकमें) सुख और सुयशके पात्र हैं और (अन्तमें) इन्द्रपुरीमें बसते हैं॥१७४॥

नोट—१ *'सब भाँति भलाई'* अर्थात् लोकमें सुखभोग करोगे और परलोक भी बनेगा। इसके प्रमाणमें परशुराम और ययातिके पुत्रके उदाहरण देते हैं। एकने पिताकी आज्ञासे माताको मार डाला, दूसरेने पिताको अपनी जवानी दी जिससे पिताने इसकी मातासे सम्भोग-सुख किया। दोनों आज्ञाएँ और दोनों कार्य मातृवध और मातृगमन—अनुचित थे, तब भी दोनोंको यश ही प्राप्त हुआ। पापका भागी कोई न हुआ। क्योंकि यदि वे पापी माने जाते तो उनको अपयश अवश्य होता, यथा—*'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'* (७।११२।७) इन उदाहरणोंका तात्पर्य यह है कि पापकर्म जो सर्वथा अनुचित है उसे भी करनेकी आज्ञा यदि पिता दे और पुत्र उसे मानकर करे तो भी उसे पाप नहीं होता। और आगे दिखावेंगे कि सुयश और सुख होता है। जब अनुचित आज्ञाके पालनमें सुख-सुयश है तब तुम्हारे पिताकी आज्ञा तो लोक और वेद सम्मत है, उसमें कैसे कोई भी बुराई आ सकती है, उसमें तो अवश्य लोकसुयश, परलोकसुख प्राप्त होंगे।

☞ श्रीभरद्वाजजीने भी यही बात कही है। यथा—*'लोक बेद संमत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥''''करतेहु राज त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू॥'* (२०७।३, ८) श्रीवसिष्ठजीके इन वाक्योंसे स्पष्ट है कि वे जानते हैं कि भरतजी राजाकी आज्ञाको अनुचित समझते हैं, नहीं तो अनुचित कार्य करके भी यश पानेवालोंका दृष्टान्त न देते। परशुरामजीकी कथा (१।२७६।२) *'माता पितहि उरिन भये नीके'* में और ययाति महाराजकी (२।१४८।६) *'सुर पुर तें जनु खँसेउ जजाती'* में देखिये।

☞ पूरु ययातिका छोटा पुत्र था। उसको उनने राज्य दिया, यहाँ भरत छोटे हैं। उनको महाराज दशरथने राज्य दिया। वहाँ जवानीके बदलेमें राज्य दिया गया और यहाँ वरके बदलेमें। दोनों अनुचित थे।

---

* रा० प्र० में 'लोग' पाठ है, पर अर्थमें 'लोक' है। इससे अनुमान होता है कि प्रेसवालोंने 'लोग' छाप दिया हो। को० रा०, ना० प्र०, भा० दा० ने 'लोग' पाठ दिया है। गी० प्रे० 'लोक' को राजापुरका पाठ बताता है।

† पालिहि— राजापुर। पर 'पालिहिं' भविष्यकालिक एकवचन है। 'जे' बहुवचनके सम्बन्धसे तथा आगेके 'ते वसहिं' के अनुसार यहाँ वर्तमानकालिक बहुवचन ही ठीक जान पड़ता है। अत: इस संस्करणमें हमने 'पालहिं' पाठ रखा है जो रा० प्र० में है।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ पहले परशुरामका उदाहरण दिया। पर इसमें भरतजीको उत्तर देनेकी राह मिलती है। वे कह सकते हैं कि वे ईश्वरावतार हैं। उनके कर्मके करनेका हमको अधिकार नहीं। यथा—'**न देवचरितं चरेत्।**' अथवा, यह कहते कि वे ब्राह्मण थे, समर्थ थे, उन्होंने फिर माताको जिला लिया, उनकी बराबरी कौन कर सकता है? अतएव दूसरा उदाहरण मनुष्य और वह भी क्षत्रिय राजकुमारका और उसी वंशका दिया। (ख) ***'सब साखी'*** अर्थात् मैं ही नहीं कहता, सब लोग जानते और कहते हैं।

टिप्पणी—२ *'अनुचित उचित बिचार तजि'''* इति। (क) भाव कि कुछ विचार न करो, पिताकी आज्ञाका पालन करो। इसका फल उत्तरार्धमें कहते हैं—***'ते भाजन सुख सुजसु के बसहिं अमरपति अयन।'*** सुख-सुयश उनमें भर जाता है और ऐहिक-पारलौकिक दोनों सुख बनते हैं। सुख-सुयश इस लोकमें और अमरपति-अयन परलोकमें मिलते हैं। सुख और सुयश दोनों धर्मके फल हैं, यथा—***'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।'*** (७। १०२) *'पावन जस कि पुन्य बिनु होई।'* (७। ११२। ७) इससे जनाया कि अनुचित आज्ञाका पालन भी धर्म माना जाता है न कि अधर्म, यदि इसकी गणना (पुण्य, सुकृतमें) न होती तो सुख-सुयश दोनों लोकोंमें कैसे प्राप्त हो सकता ? ***'बसहिं अमरपति अयन'*** से जनाया कि बहुत कालतक इन्द्रलोकका सुख उनके ही यहाँ रहकर मिलता है। पितृभक्तको इन्द्रलोक प्राप्त होता है। वा, (ख)—भरतजीकी चेष्टा देखकर कि राज्यकी इच्छा नहीं है, इसे वे अनुचित समझते हैं कि बड़ेके रहते छोटा राज्य करे और इसे पाप समझते हैं, मुनिने यह वचन कहे और यही सिलसिला आगेतक गया है। ये सब आशय इस प्रसङ्गमें झलक रहे हैं।

अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोकु परिहरहू॥ १॥
सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू। तुम्ह कहुँ सुकृतु सुजसु नहि दोषू॥ २॥
बेद बिदित* संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥ ३॥
करहु राजु परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥ ४॥

शब्दार्थ—'बिदित'=जाना हुआ, अवगत, विहित, दिया हुआ।

अर्थ—राजाका वचन अवश्य सत्य करो। प्रजाका पालन करो। शोकको छोड़ो॥ १॥ इस प्रकार स्वर्गमें राजा सम्यक् प्रकारसे संतोष पावेंगे (संतुष्ट वा प्रसन्न होंगे)। तुमको पुण्य और सुन्दर यश मिलेगा, दोष नहीं लगेगा॥ २॥ वेदमें प्रसिद्ध है और सभीका (स्मृतियों, संहिताओं, पुराणों इत्यादि सबका) सम्मत है कि जिसको पिता दे वही राजतिलक पाता है अर्थात् अभिषिक्त होता है॥ ३॥ अत: तुम राज्य करो, ग्लानि छोड़ो और मेरा वचन हितकारी समझकर मानो॥ ४॥

नोट—१ राज्य ग्रहणकी आज्ञा पालन करनेमें भरतजीकी चेष्टा बराबर उदासीन देख पड़ी, इसीसे बारम्बार पिता-वचन पालनेको कहा और सब तरहसे निर्दोष दिखाकर सबको सुख और उनको भी लोक-परलोक दोनोंमें सुख-सुयशकी प्राप्ति दिखायी। यथा—(१) *'सिर धरि राज रजायसु करहू',* (२) ***'पिता बचन फुर चाहिय कीन्हा;'*** (३) *'करहु तात पितु बचन प्रमाना;'* (४) *'करहु सीस धरि भूप रजाई;'* (५) ***'अवसि नरेस बचन फुर करहू।'*** आगे माता, मन्त्री सभीने यही कहा है यथा—(६) ***'पूत पथ्य गुर आयसु अहई।'*** (७) ***'सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू'*** (माता), ***कीजिय गुर आयसु'''।'***

नोट—२—गुरुजीने 'पिता और राजा' का वचन माननेको कहा क्योंकि राज-आज्ञा अमेट है और पितु-आज्ञापालन बड़ा भारी धर्म है, यथा—*'पितु आयसु सब धरम क टीका।'* अतएव बारम्बार कहा। पिता-वचन पालनेके लिये तो गुरुजी कह ही चुके। मन्त्री, महाजन और माताने देखा कि इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा, इससे उन्होंने सहमत होते हुए 'गुरु-आज्ञा' पालन करनेको कहा, यह समझकर कि गुरुका कहना अवश्य मानेंगे।

* रा० प्र०, राजापुर, बैजनाथमें है। 'बिहित' (भागवतदास)

नोट—३—इस प्रसङ्गमें यह भी दिखाया है कि प्रजा-पालन राजाका मुख्य धर्म है। राजा, मन्त्री, राजकुमार, राज्य-सम्बन्धी सभी लोगोंको प्रजाके सुखका कैसा खयाल रहना चाहिये, यह सब यहाँ स्पष्ट दिख रहा है। मुख्य धर्म जानकर इसपर बारम्बार जोर दिया गया है। यथा—(१) *'पालहु प्रजा सोकु परिहरहू'* (२) *'तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी'* (३) *'परिजन प्रजा सचिव सब अंबा।' 'तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलंबा'* (४) *'प्रजा पालि पुरजन दुख हरहू।'* यह यहाँ कहा गया। अन्यत्र भी कहा है। माता श्रीरामजीसे कहती हैं—(५) *'बेगि प्रजा दुख मेटब आई'* (६) *'तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहिं प्रचंड कलेस।'* श्रीरामजी भी कहते हैं। (७) *'मैं बन जाउँ तुम्हहिं लै साथा। होइहिं सब बिधि अवध अनाथा॥ जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी',* (८) *'करहु प्रजा परिवार सुखारी'* (९) *'पालहु पुहुमि प्रजा रजधानी'* (१०) *'पालेहु प्रजहि करम मन बानी'* (यह भरतजीको सन्देसा है। भरतजी कैकेयीसे इसीसे रूठे, यथा—(११) *'दीन्हेउ प्रजहि सोक संतापू।'*

☞ आजकलके राजाओं, महाराजाओं और राज्याधिकारियोंको यह उपदेश है। ओडायर-पंजाब-हत्याकाण्ड-सी प्रजा-रक्षा, प्रजापालन कभी कविको अभिप्रेत न थी। यह आदर्शसे बिलकुल गिरी हुई दशा भारतीय राजनीतिमें न थी। हठी मिनिस्टर, डिक्टेटर अपना हठ रखनेके लिये प्रजापर गोली चलाते हैं, सारी प्रजा जिसका विरोध करती है वही वह हठपूर्वक करते हैं।

पु० रा० कु०—१ (क) *'सोकु परिहरहू'* में दूसरा अर्थ भी निकलता है कि प्रजाका शोक सम्यक् प्रकारसे हरो। जैसे परितोषू=सम्यक् तोष। (ख) *'संमत सबही का'*॥ छोटे-बड़े सबका यह सम्मत है। नीति, संहिता, पुराण सबमें कहा है। शुक्राचार्यने ययातिको यह आज्ञा दी थी कि जिसको चाहे राज्य दें, सबसे छोटेको उन्होंने राज्य दिया और सब ऋषि इस नीतिसे संतुष्ट रहे। शुक्राचार्यजी नीतिके आचार्य हैं। (ग) *'करहु राजु परिहरहु गलानी।''''''* अर्थात् हर्षपूर्वक राज्य करो।

टिप्पणी-२—*'मानहु मोर बचन'''''* इति। भाव कि एक तो राजाज्ञा, दूसरे पितु-आज्ञा है, तीसरे हम गुरु हैं। हम भी पिताका वचन माननेको कहते हैं, मेरे इस वचनको मानो। 'बचन' का भाव कि आज्ञा तो राजाकी ही है और कहता मैं हूँ कि करो। अतएव करो। हमारे वचन तुम्हारे लिये हितकर हैं।

नोट—४ *'मानहु मोर बचन'* इसीको माता, मन्त्री सबने गुरु-आज्ञा माना है। यथा—*'कीजिअ गुरु आयसु', 'पूत पथ्य गुर आएसु अहई।'* पर भरतजीने इसे उपदेश ही माना है। यथा—*'मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका', 'तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥'*

सुनि सुखु लहब राम बैदेहीं। अनुचित कहब न पंडित केहीं॥५॥
कौसल्यादि सकल महतारीं। तेउ प्रजा सुख होंहि सुखारीं॥६॥
मरम* तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥७॥
सौंपेहु राजु राम कें आएँ। सेबा करेहु सनेह सुहाएँ॥८॥
दो०—कीजिअ गुर आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आए उचित जस तस तब करब बहोरि†॥१७५॥

शब्दार्थ—केहीं=कोई भी।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी और श्रीजानकीजी इस कार्यको सुनकर सुख पावेंगे। कोई भी पण्डित (बुद्धिमान् एवं विद्वान्) इसे अनुचित न कहेगा॥५॥ कौसल्या आदि सभी माताएँ भी प्रजाके सुख-(पाने-) से सुखी होंगी॥६॥ जो तुम्हारे और श्रीरामचन्द्रजीके मर्मको जानता है या जानेगा वह सब प्रकार तुमसे भला मानेगा॥७॥ श्रीरामचन्द्रजीके आनेपर राज्य उन्हें सौंप देना और सुन्दर स्नेहसहित उनकी

---

* परम—राजापुर

† 'तब बहोरि'-तब फिर, तब पुनः। पुनरुक्तिवदाभास अलङ्कार।

सेवा करना॥ ८॥ मन्त्री हाथ जोड़कर कह रहे हैं कि गुरुजीकी आज्ञाका अवश्य ही पालन कीजिये और श्रीरघुनाथजीके आनेपर जैसा उचित हो तब फिर वैसा कीजियेगा॥ १७५॥

नोट—१ यदि सोचते हों कि श्रीरामजीको बुरा न लगे; क्योंकि उनको वन देकर राज्य लिया जा रहा है, तो उसपर कहते हैं कि पितु-आज्ञा-पालन और तुम्हारा राज्य सुनकर *'सुखु लहब राम बैदेहीं।'''* पहले भी सुख माना है यथा—*'भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू', 'भाइ भरत अस राउ।'* पिताको कैकेयीसे उऋण देखकर, अपनी आज्ञाका पालन देखकर (*'तजब न नीति राज पद पाए।'* भरतजीके वचनसे भी यह भाव निकलता है—*'प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आयउँ इहाँ समाज सकेली॥'*) तथा प्रजाको सुखी देखकर इत्यादि बातोंसे उनको सुख प्राप्त होगा। सब पण्डित प्रशंसा करेंगे। श्रीरामजीके सम्बन्धकी शङ्का दूर की। अब दूसरी शङ्का हो सकती है कि 'श्रीसीतारामजी भले ही सुखी हों, पर सब माताओंको दुःख होगा कि 'हमारे पुत्रोंको वन भेजकर राज्य करते हैं।' उस सन्देहको मिटाते हैं कि वे सब प्रजाके दुःखसे दुःखी हैं, प्रजाको सुखी देखकर वे भी सुखी होंगी। वे प्रजाको पुत्र-समान मानती हैं।

नोट—२ *'मरम तुम्हार राम कर जानिहि।'''* इति। (क) पंजाबीजी एवं पं० रामकुमारजीने यह अर्थ किया है कि 'वे (माताएँ) तुम्हारे और रामके मर्मको जानती हैं, इससे वे सुख मानेंगी। सब प्रजा जानती है।' क्या मर्म ? कि दोनोंमें परस्पर प्रेम है, दोनोंका एक-सा स्वभाव है, तुम उनके प्रतिकूल नहीं हो। इसपर भी यदि वे कहें कि सब सुख मानें,पर हम राज्य न लेंगे, उसपर कहते हैं—*'सौंपेहु राजु राम के आए। सेवा करेहु सनेह सुहाए॥'* (ख) बाबा हरिदासजी कहते हैं कि भाव यह है कि 'फिर राज सौंप देना, सेवा करना, यह स्नेहकी शोभा है और जो सदैव राज्य करो तो धर्मकी शोभा है, क्योंकि पितादत्त राज है।

'वसिष्ठ-भाषण'—'कीजिय गुरु आयसु'

पं० यादवशंकर जामदार—इस भाषणकी सजावट बड़ी ही मोहक है। इसकी कारण-परम्परा जितनी सरल और सादी है, उतनी ही वह परिणामकारक भी है। इस भाषणको सुनकर सभी सभासदोंको वह *'गुरु आयसु'* गुरुजीका आज्ञा पत्र-सा ही प्रतीत हुआ। पर यहाँ प्रश्न तो यह है कि क्या यह भाषण आज्ञात्मक हो सकेगा? यदि यह भाषण आज्ञात्मक होता तो क्या भरतजी उसका विरोध अपने भाषणमें कर सकते? करते ही, तो क्या वसिष्ठजी ऐसा अपमान सह लेते? जो सहन न कर सकते तो क्या उसका परिणाम भरतजीको भुगतना न पड़ता ? इन सब विचारोंसे यह कहनेमें शंका ही होती है कि भाषण आज्ञात्मक था। इसके अतिरिक्त यदि वसिष्ठजी भरतजीको अपनी आज्ञाका भंग करनेवाला समझते तो वे स्वयं भरतजीके साथ वन न गये होते और श्रीरामजीके सामने चित्रकूटपर भरतकी प्रशंसा भी न करते।

इन सब कारणोंसे हमें जान पड़ता है कि वसिष्ठजीका भाषण केवल लोकरंजनार्थ था। यथार्थमें उनको भरतजीकी परीक्षा ही लेनी थी और देखना था कि वे कैकेयीके पक्षमें शामिल तो नहीं हैं, जो शामिल होंगे तो वे उनके (वसिष्ठजीके) रसभरित भाषणका आधार लेकर राज्य करेंगे और यदि ऐसा न होगा तो कम-से-कम उनके आगेके विचार तो उनके मुखसे बाहर आ ही जायँगे। इस तरहसे हम इस भाषणको दो अर्थवाला प्रयोजन समझते हैं और वसिष्ठजीको सच्चे-सच्चे राजनीतिनिपुण समझते हैं।

बैजनाथजी—*'मानहु मोर बचन हित जानी'* ये गुरुवाक्य शुद्ध आयसु नहीं हैं। केवल उपदेशमात्र हैं। भरतजी भी यही कहते हैं—*'गुरु उपदेसु दीन्ह मोहि नीका।'*

प० प० प्र०—वसिष्ठजी त्रिकालज्ञ हैं, यथा—*'तुम्ह त्रिकाल दरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा॥'* मन्त्री तथा अवधवासी श्रीभरतजीके विषयमें सशंक हैं। उनका भाव सबपर प्रकट करनेके लिये यह उपदेशात्मक भाषण किया गया। आगे चित्रकूटमें भी वसिष्ठजी परीक्षाके हेतुसे ही कहते हैं कि *'सकुचउँ*

तात कहत एक बाता।'''''तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई'''''।' वहाँ भरतजी भी इस बातको जान गये, इसीसे कहते हैं—*'जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचन प्रवान।'* (२५६) भरतजीका अनुपम परमोच्च आदर्श चित्रण करनेका सच्चा प्रारम्भ इस भाषणसे हुआ।

वि० त्रि०—*'सौंपेहु राजु राम कें'''''सुहाए'* इति। इस प्रसङ्गमें जो कुछ वसिष्ठजीने मन्थन करके कह दिया, अन्तमें वही हुआ। साथमें इस बातको आज्ञाकी भाँति गुरुजीने नहीं कहा, केवल अपनी सम्मति दी। यथा—*'करहु राज परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥'* इसका भाव ही यह है कि मैं आज्ञा नहीं देता, मैं भलेके लिये कहता हूँ, इसलिये मानो। आज्ञामें हेतु नहीं दिया जाता। हेतु दिया गया तो वह आज्ञा नहीं सलाह है। श्रुति 'सत्यं वद' ,'धर्मं चर' इत्यादि विधि-(आज्ञा-) में हेतु नहीं देती। यद्यपि सचिव तथा माता भरतजीपर अधिक दबाव डालनेके लिये उसे आज्ञाके रूपमें ग्रहण करनेको कहते हैं, यथा—*'कीजिअ गुरु आयसु अवसि कहहिं सचिव कर जोरि'* तथा *'पूत पथ्य गुरु आयसु अहई'* परन्तु भरतजीने उसे वैसा नहीं माना। वे कहते हैं *'गुरु उपदेस दीन्ह मोहि नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥'* अत: भरतजीको कुछ कहने-करनेका अवसर मिल गया। नहीं तो वहींपर कथाकी समाप्ति थी।

नोट—३ (क) रा० प्र०, शीला, पु० रा० कु०—गुरुजीके वचन तो स्पष्ट हैं, पर मन्त्रियोंके वचन संदेहात्मक हैं। इन्होंने लगी-लपटी कही कि *'तब तस करब।'* इससे यह सिद्ध है कि मन्त्रियोंको अभीतक भरतजीके अन्त:करणका कुछ भेद नहीं मिला। पुन: उनको संदेह है कि कैकेयी न कहे कि राम क्यों राज्य करें। भरत ही क्यों न करें? इसीसे अपनेको बचाते हुए कहते हैं। सम्भव है कि सोचते हों कि १४ वर्ष बीत जानेपर फिर ये राज्य न छोड़ना चाहें, प्रजा भी इनके अनुकूल हो जाय; तब अभीसे कैसे कह दें कि श्रीरामको राज्य दे देना।

(ख) *'अवसि'* पदसे गुरु-आज्ञाका गौरव दिखाया, यह अवश्य कर्तव्य है—**'अवश्यमेव कर्तव्यं गुरोराज्ञा गरीयसी।'**—(पं०)

(ग) *'कर जोरि'* अर्थात् विनयपूर्वक, क्योंकि सब प्रजा पीड़ित है। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि 'व्यवहार बिगड़ गया और इनसे कुछ बना नहीं, इससे वे अपनी ओरसे कुछ नहीं कह सकते।' बैजनाथजी कहते हैं कि 'गुरुवचन प्रभुसम्मित अर्थात् साथ हुक्मके हैं और सचिवके वचन सुहृद्सम्मित अर्थात् मनमिलानके साथ हैं, इससे वे हाथ जोड़कर मनकी चाहके अनुकूल कहते हैं।'

पु० रा० कु०—गुरु वसिष्ठका मन्त्रियोंमें इतना मान था कि इनकी रायपर सभी सही करते थे। यह बात वाल्मीकीयमें स्वयं मन्त्रियों और ऋषियोंने कही है, यथा—'**जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्। नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागर:॥**' (२। ६७। ३७) अर्थात् राजाके जीवनकालमें भी हम लोग आपकी बातोंका उल्लङ्घन नहीं करते थे,जैसे समुद्र तटका अतिक्रमण नहीं करता। पूर्व जब राजाने मन्त्रियोंसे कहा कि *'प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहि राय देहु जुबराजू॥ जो पाँचहि मत लागइ नीका।'* (२। ५। ३-४) तब भी उत्तरमें *'बिनती सचिव करहिं कर जोरी'''''बेगिय नाथ न लाइय बारा'* कहा था, वैसे ही यहाँ गुरुवचनका समर्थन हाथ जोड़कर करते हैं।

नोट—४ गुरुके भाषणका उपक्रम—*'नीति धरममय बचन उचारे'*। (१७१। ४) और उपसंहार *'कीजिअ गुरु आयसु॥'* (१७५) है।

गुरु-उपदेश समाप्त हुआ।
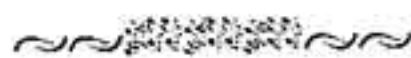
राज्य-प्रणाली

पं० रामचन्द्र दूबे—गुसाईंजीकी राज्य-प्रणाली एकतन्त्र शासनका एक रूप है, पर वह निरंकुश नहीं। मन्त्रियों तथा विद्वान्-मण्डली, ऋषि-महर्षियोंका अंकुश राजाके सिरपर सदा लटका रहता है। पहले आश्रमधर्म ही नरेशको मार्ग विचलित होनेसे रोकता है। पुत्रके वयस्क होनेपर राजा वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करनेपर बाध्य होता है। श्रीरामचन्द्रजीके वनवास-गमनके समाचार सुनकर माता कौसल्याजी कहती हैं—*'अंतहु उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हिय''''।'*

यह आश्रम-विभाग ही एक बड़ा अकुंश था। मानो राज्य एक प्रकारकी धरोहर थी। एक नियत समयके लिये शासनकी बागडोर राजाके हाथमें रहती थी। सुयश और सुकीर्ति उपार्जन करना ही उसका उद्देश्य था। आजकलका समय न था कि मृत्युशय्यापर पड़े हैं, पर फिर भी राज्यशासनकी लालसा पिण्ड नहीं छोड़ती। स्वायम्भुव मनुको राज्य करते हुए बहुत दिन हो गये। वृद्धावस्थाके आगमनकी सूचना मिली।—*'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपनु। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥ बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गमन बन कीन्हा॥'* महारानी मन्दोदरी कहती हैं *'बेद कहहिं अस नीति दसानन। चौथेपन जाइअ नृप कानन॥'*

ज्येष्ठ पुत्र साधारणतः राज्यका उत्तराधिकारी होता था।''''पर उसमें भी मन्त्रियों तथा प्रजाजनकी सम्मतिकी आवश्यकता थी। महाराज दशरथ वृद्ध हो चले। वानप्रस्थ आश्रमका समय आ गया। युवराजकी नियुक्ति आवश्यक हुई। ज्येष्ठ पुत्र होनहार है।''''*'भये राम सब बिधि सब लायक।'''''* यह सब कुछ है, पर राजाज्ञा घोषित नहीं होती। पहले गुरुमहाराज वसिष्ठजीका मन टटोला जाता है और सकुचाते हुए महाराज अपना उद्देश्य प्रकट करते हैं। गुरुकी सम्मति मिलनेपर भी राजाज्ञा एकदम नहीं हो जाती। मन्त्रियोंकी सभा होती है और उसमें प्रस्ताव उपस्थित होता है।''पंच और सचिव स्वयं ही राजकुमारके सदाचारपर मुग्ध हैं। प्रस्ताव सुनते ही—*'अभिमत बिरव परेउ जनु पानी।'* वे निवेदन करते हैं—*'जगमंगल भल काज बिचारा। बेगिअ नाथ न लाइअ बारा॥'* इतना होनेपर तब कहीं राजाज्ञा होती है।

२ आजकल कम-से-कम भारतमें राजपद वास्तविक रूपमें कोई भार नहीं समझा जाता। धार्मिक विचार तो जाते ही रहे। उत्तराधिकारीको सिंहासनपर बैठा, एक-दो मन्त्र पढ़ टीका कर दिया, बस समाप्ति हो गयी।

राज्याभिषेककी तैयारियाँ हो रही हैं। पर—*'तब नरनाह बसिष्ठ बुलाए। रामधाम सिख देन पठाए॥'* और गुरुजी जाकर रामको शिक्षा देते हैं। यह तो हुआ; पर श्रीरामचन्द्रजी वनको गये। महाराज स्वर्गको सिधारे। महारानी कैकेयी स्वपुत्रको सिंहासनासीन देखनेकी कामनामें है। महाराजकुमार भरत ननिहालसे आते हैं। स्वर्गीय नरेशके मृतक संस्कारसे निवृत्त होकर राजपरिवार शुद्ध होता है। राजसिंहासन खाली है। उत्तराधिकारीका प्रश्न तै करना है। सभा बैठती है। पर कौंसिल अकेले इस गुत्थीको सुलझानेमें अपनेको असमर्थ समझती है। अतएव *'सचिव महाजन सकल बुलाए।'* मन्त्रिमण्डलद्वारा साम्राज्यके सब गण-मान्य नागरिक निमन्त्रित किये गये।

श्रीरामचन्द्रजी युवराज-पदके लिये स्वीकृत हो चुके हैं। अतएव स्वर्गीय नरेशके उत्तराधिकारी भी माने जा चुके हैं। इसलिये वसिष्ठजी यह कहते हुए भी कि *'बेद बिहित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावहिं टीका॥'* प्रस्तावमें केवल एक प्रकारकी रीजेंसी (Regency) स्थापनाका संकेतकर महाराज पुत्र भरतको रीजेन्ट बनाना चाहते हैं—*'सौंपेहु राज रामके आए। सेवा करेहु'''''*'। मन्त्रिमण्डल प्रस्तावका समर्थन करता है—*'कीजिअ गुर आयसु।'*

तो क्या नागरिक प्रतिनिधि केवल तमाशा देखनेको बुलाये गये थे? नहीं, नहीं, उनकी सम्मति आवश्यक थी। सम्मति ली गयी और उन्होंने भी उसी प्रस्तावका अनुमोदन किया। अन्तमें यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। महाराजपुत्र सिंहासनासीन तो नहीं हुए, पर राजर्षिके समान जीवन व्यतीत करते हुए रीजेन्टका कार्य करते रहे।

पाठक देख चुके कि राजसिंहासनपर किसी व्यक्तिको बैठानेमें प्रजाका कितना अधिकार था। या यों कहिये कि गुसाईंजीकी रायमें राज्य-अधिकार वंशपरम्परागत होते हुए भी प्रजाको उसमें बोलनेका स्वत्व था, जो साधारणसे कुछ विशेष था। अब यह देखना है कि कविकी दृष्टिमें राजाका कर्तव्य क्या है। वह प्रजाका कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता और स्वामी ही है अथवा सेवक या माँ-बाप भी?—(*'मुखिया मुखसों चाहिये·····'* ३१५ में देखिये।) (ना० प्र० ग्रन्थावलीसे)

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥ १॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल-गति जानी॥ २॥
बन रघुपति सुरपुर* नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥ ३॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥ ४॥

शब्दार्थ—**पथ्य**=चिकित्साके कार्य अथवा रोगीके लिये हितकर वस्तु, विशेषत: आहार; हित, कल्याणकारक, करने योग्य। **काल-गति**=समयका हेर-फेर, दिनोंका फेर, जमानेकी गर्दिश।

अर्थ—श्रीकौसल्याजी धीरज धरकर कह रही हैं—बेटा! गुरुजीकी आज्ञा पथ्य है अर्थात् इस कुरोगमें सेवन करने योग्य है, इसके पालनसे कल्याण होगा॥ १॥ उसका आदर करना चाहिये, उसे हित (भला, हितकर) मानकर करो, समयका फेर समझकर शोकको छोड़ो॥ २॥ श्रीरघुनाथजी वनमें हैं, मनुष्योंके स्वामी (राजा दशरथ) देवताओंके लोकमें हैं और हे तात! तुम इस प्रकार हिचकिचा रहे हो॥ ३॥ हे पुत्र! सब माताओं, कुटुम्बियों, प्रजा और मन्त्रियों सभीके लिये तुम ही एकमात्र अवलंब हो॥ ४॥

पु० रा० कु०—१ *'कौसल्या धरि धीरजु·····'* इति। (क) कौसल्या अर्थात् कुशला (पण्डिता) हैं, उनको अलौकिक विवेक प्राप्त है; अत: धैर्य धारण करके बोलीं। (ख) *'पथ्य गुर आयसु'* यथा—**गुरूणां वचनं पथ्यं कवीनां रसवद्वच:।**' पूर्व कहा है कि *'खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुरोग बिगोए॥'* (१५८। ७) और आगे भरतजी भी कहते हैं—*'एहि कुरोग कर औषध नाहीं।'* (२१२। २) इस सम्बन्धसे *'पथ्य'* शब्द बड़ा उत्तम है। श्रीभरतजी श्रीरामवियोगरूपी कुरोगसे पीड़ित हैं। रोगीको पथ्य दिया ही जाता है। अत: माता उनको पथ्य बताती हैं। पथ्य है अर्थात् करने योग्य है। पुन:, (ग) *'पथ्य'* से कटु जनाया। पथ्य अच्छा नहीं लगता, वैसे ही यह तुमको कड़ुवा लगता है, पर अभी नहीं आगे हितकारी होगा। अथवा, (घ) ***गुर आयसु पूत*** अर्थात् पवित्र है और पथ्य है। भाव यह कि ऐसा भी हो सकता है कि सेवने योग्य हो, दु:ख हरण करता हो, पर पवित्र न हो; जैसे माता-वधकी आज्ञा, पुत्र-यौवनसे मातृ-संभोग—ये पथ्य तो हैं पर पवित्र नहीं, और यह आज्ञा पथ्य है, इससे लोकमें दु:ख न होगा और परलोक बनेगा; अतएव पवित्र भी है।

नोट—१ (क) माता प्रेममें भूलकर रोगमें पथ्य दे रही है, वह नहीं देखती कि शरीरमें रोग रहते पथ्य देना उचित नहीं। पर रोगी समझदार है, वह अपनी व्यवस्था समझकर उसे नहीं ग्रहण

* 'सुरपति'—राजापुर। 'सुरपुर' पाठान्तर है। आगे बराबर इस प्रसंगमें 'सुरपुर' शब्द आया है। यथा—'पितु सुरपुर।' (१७७) 'बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा।' (१७९। ४) 'पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा।' (१८०। ३) अत: 'सुरपुर' पाठ ही समीचीन जान पड़ता है। राजा सुरपति हो गये ऐसा कहना कहाँतक उचित होगा। इन्द्र तो दूसरा बना हुआ है। प्रथम संस्करणमें हमने 'सुरपति' पाठ ही रखा था और अर्थ यह किया था कि 'राजा देवताओंके स्वामी हुए हैं। अर्थात् इस लोकका राज्य त्यागकर स्वर्गको पधारे कि अब देवताओंका पालन करें।' श्रीकौसल्याजी पतिके सम्बन्धमें इस शब्दका प्रयोग कर सकती हैं। अ० रा० में कुछ ऐसा ही वसिष्ठजीने कहा है। यथा—'अन्ते जगाम त्रिदिवं देवेन्द्रार्द्धासिनं प्रभु:।' (२। ७। ९४) अर्थात् स्वर्गलोकमें जाकर देवराज इन्द्रके आधे आसनके अधिकारी हुए। वैसे ही 'सुरपति' का भाव यह हो सकता है कि इन्द्रासनके अधिकारी हुए हैं।—फिर भी मुझे 'सुरपुर' पाठ ही विशेष ठीक जँचता है। अत: उसे रखा है।

करेगा। (प्र० सं०) (ख) माताजी पथ्य बताती हैं, पर भरतजीकी भावनानुसार तो *'एहि कुरोग कर औषध नाहीं।'* जब औषध ही नहीं है, तब केवल पथ्य-सेवनसे क्या लाभ! हाँ, माताका भाषण, *'राम भरत दोउ सुत सम जानी'* के अनुसार यथार्थ ही है। यहाँ भी माता कौसल्याके हृदयकी परमोदारताका दर्शन होता है। (प० प० प्र०)

नोट—२-*'कालगति'* इति। जो जिस समय होनहार है उस समय होकर रहता है। जैसे वैशाख-ज्येष्ठमें धूप, माघ-पूसमें जाड़ा, श्रावण-भादोंमें वर्षा इत्यादि कालगति है; जब जैसा समय आता है वैसा होता है। विशेष *'जनम मरन सब दुख सुख भोगा।'''काल करम बस होहिं गोसाईं॥'* (१५०। ५-६)' में देखिये।

नोट—३ *'तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू'* इति।—लक्ष्मणजीके कदरानेसे इनका कदराना भी जाना। वे सिखावन सुनकर सुखी न हुए थे। उसी प्रकार ये भी कादर हो रहे हैं, इनको भी इससे सुख न हुआ। (पं० रा० कु०)

लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥५॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन* दुखु हरहू॥६॥
गुर के बचन सचिव अभिनंदनु। सुने भरत हिय हित जनु चंदनु॥७॥
सुनी बहोरि मातु मृदु बानी। सील सनेह सरल रस सानी॥८॥

शब्दार्थ—**अभिनन्दनु**=विनीत प्रार्थना, अनुमोदन, प्रोत्साहन, प्रसन्नताका प्रकाशन, समर्थन, ताईद। **हित**=लिये, हितकर। **अनुसरहू**=अनुकूल करना, पीछे-पीछे चलना, पालन करना।

अर्थ—विधाताकी प्रतिकूलता (अपने खिलाफ, टेढ़ा वा विपरीत होना) और कालकी कठोरता देखकर धीरज धरो, माता तुम्हारी बलिहारी जाती है॥५॥ गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर उसके अनुसार करो। प्रजाका पालन करके कुटुम्बका दुःख हरो॥६॥ भरतजीने गुरुके वचन और मन्त्रियोंका अनुमोदन तथा विनीत प्रार्थना सुनी जो उनके हृदयके लिये मानो चन्दन थे अर्थात् हृदयको शीतल करनेवाले थे॥७॥ फिर उन्होंने माताकी शील-स्नेह-सरल-रसमें सनी हुई कोमल मीठी वाणी सुनी॥८॥

टिप्पणी—१ *'लखि बिधि बाम'''* इति। अर्थात् जब विधाता रूठे होते हैं तब कितना ही उपाय करो कुछ बन नहीं पड़ता और जब वह दाहिना होता है तब बिना परिश्रम सब कुछ बन जाता है। *'कालु कठिनाई'* अर्थात् काल जबरदस्ती सब करता-कराता है; देखो कठिनता उसकी गर्मीमें पसीना टपके,जाड़ेमें आग तापना पड़े, किसीका बस नहीं चलता। कालकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। (इस चरणमें गुरु वसिष्ठके *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ'* इन वचनोंका भाव और अनुमोदन है। ये टल नहीं सकते अतः धैर्य धारण करनेके सिवा और क्या किया जा सकता है।) यहाँ श्रीरामजीका वनगमन विधिकी वामता है और राजाकी मृत्युमें कालकी कठिनाई कारण है।

टिप्पणी—२ *'आयसु अनुसरहू'* कहकर तब आयसु कहा कि *'प्रजा पालि'''* यह जो आज्ञा है, इसे करो।

नोट—१(क) *'गुरु के बचन सचिव अभिनंदनु'* इति। 'अभिनन्दन' शब्द देकर जनाया कि गुरुजीके वचनोंसे मन्त्रियोंको आनन्द हुआ, इसीसे उन्होंने उनका अनुमोदन किया। (पं० रा० कु०) (ख) *'भरत हिय हित जनु चंदनु'* इति। अर्थात् ये वचन श्रीभरतजीके हृदयको चन्दनके समान हित करनेवाले हैं। क्योंकि इनमें पिताकी तथा गुरुकी आज्ञाका पालन कहा गया है जो सब धर्मोंमें शिरोमणि होनेसे लोक-परलोक दोनोंका सुख प्राप्त कर देनेवाले हैं। (पं० रा० कु०) (ग) *'चन्दनु'* की उपमाका भाव यह है कि जैसे चन्दनमें दो गुण हैं—सुगन्ध और शीतलता; वैसे ही इन वचनोंमें परलोक-सुख शीतलता है। (रा० प्र०) अथवा, राज-व्यवहारमें ताप मिट जायगा यह शीतलत्व है, लोकमें सुयशका होना कि पिता और गुरुकी

* पुरजन—रा० प्र०।

आज्ञा मानकर इन्होंने राज्य स्वीकार किया और प्रजाका पालन किया यही सुगन्ध है। (शीलावृत्त) बैजनाथजी लिखते हैं कि चन्दन श्वेत, पावन, शीतल और सुगन्धित होता है। यहाँ पिताकी आज्ञा श्वेतता, कुसमयमें प्रजापालन पावनता, श्रीरघुनन्दनके आनेपर राज्य सौंप सेवा करना शीतलता और मन्त्रियोंका अनुमोदन सुगन्ध है। चन्दन पान करनेमें कड़वा लगता है वैसे ही ये वचन श्रीभरतजीको कड़वे लगे।

नोट—२ चन्दन है तो व्याकुल क्यों हुए? उत्तर—(क) अन्त:करणमें ताप, ऊपर लगे चन्दन! तो निवारण कैसे हो? वाणी हितकर है पर भीतर तो विरहाग्नि है इससे विपर्यय हुआ। आगे छन्दमें भी देखिये। (पं० रा० कु०) (ख) श्रीभरतजी जानते हैं कि *'भगत उर चंदनु'* तो एकमात्र श्रीरामजी ही हैं, अत: उस चन्दनके बिना उनका हृदय कब शीतल हो सकता है। राज्यारोहणरूपी चन्दन शोकरूपी कराल सर्पोंसे वेष्टित है, इसीसे वे आगे कहते हैं—*'सोक समाजु राजु केहि लेखें। लषन राम सिय पद बिनु देखें॥'* (१७८-३) (प० प० प्र०)

नोट-३ *'सील सनेह सरल रस सानी'* इति। शील यह कि प्रतिकूल सौत कैकेयीके पुत्रका पक्ष लेती हैं, उनको राज्य पानेमें सहारा होती है। *'मातु बलि जाई'* स्नेह है। मन सौम्य है, निश्छल है, यह नहीं कि भीतर कुछ, बाहर कुछ, यह सरलता होती है। (पं० रा० कु०) वा, वात्सल्य रसकी होनेसे *'सरल रस सानी'* कहा। (बै०)

छं०—सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भए।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए॥
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सींव सहज सनेह की॥

सो०—भरतु कमल कर जोरि धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि॥ १७६॥

अर्थ—सरलतारूपी रसमें सनी हुई (अर्थात् अत्यन्त सीधी-सादी छलरहित) माताकी वाणी सुनकर भरतजी व्याकुल हो गये। कमल-समान नेत्र आँसू बहाते हैं और हृदयके नये विरहके अँखुयेको सींच रहे हैं अर्थात् जो विरह उनके हृदयमें था उसको इन्होंने हरा-भरा कर दिया, उनके वियोगजनित दु:खको बढ़ा दिया। उनकी वह दशा देखकर उस समय सभीको अपने शरीरकी सुध भूल गयी। तुलसीदासजी कहते हैं कि सब लोग स्वाभाविक प्रेमकी सीमा श्रीभरतजीकी आदरपूर्वक सराहना कर रहे हैं। कमल-समान हाथोंको जोड़कर धीर (धैर्यवानों और बुद्धिमानोंमें) श्रेष्ठ श्रीभरतजी धैर्य धारण करके मानो अमृतमें वचनोंको डुबाकर सबको उचित उत्तर देने लगे॥ १७६॥

नोट—१ *'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल·····'* इति। सरल वाणी सुनकर व्याकुल होनेके कुछ कारण ऊपर चौपाईमें लिखे गये और भाव ये कहे जाते हैं—(क) व्याकुल होनेका भाव कि माता भी श्रीरघुनाथजीसे विमुख करना चाहती हैं। शील, स्नेह और सरलता—ये तीनों दोष हैं क्योंकि इनमें पड़नेसे श्रीरामविमुख हो जायँगे; दु:ख कुछ और, दवा कुछ और! (रा० प्र०, पु० रा० कु०)। नेत्रकमल जल नहीं गिराते मानो हृदयमें जो नवीन विरहाङ्कुर हैं उन्हें सींचते हैं। यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा है। (ख) कोई कुटिलके साथ कुटिलता करे तो उसे दोषी न कहेंगे, पर यदि सरलस्वभाव मनुष्यके साथ कोई कुटिलता करे तो बड़ा पाप है। भरतजी यह सोचकर कि ऐसी अत्यन्त सरल सुशील माताके साथ कैसी कुटिलता की गयी, व्याकुल हो गये। (पं०)(ग) वे इस सरलताको अपनी माताकी कुटिलतासे मिलाकर श्रीरामवनवास आदि अनर्थोंका स्मरण करने लगे। उस स्मरणके साथ कमलनेत्रसे जल बहाकर हृदयमें विरहके नये अङ्कुरोंको सींचते हैं। वा, नये अङ्कुरोंको ये नेत्र सींचते हैं और श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीजीका वनगमन और नृपमृत्यु

आदि वे अनेक विरह-अङ्कुर हैं। (पां०) (घ) कैकेयीके वचनसे रामवियोग-बीज हृदय-थलमें पड़े थे, वे इस जलको पाकर अङ्कुर होने योग्य हुए। (वै०)

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ (क) कमललोचनसे जल गिरता है मानो वे जलसे हृदयमें जो विरह-के नवीन अङ्कुर हैं उन्हें सींचते हैं, विरहाङ्कुर जो हृदयमें था वह अब अँखुआ हो गया। यदि अब यह बढ़ा तो १४ वर्षका विक्षेप पड़ जायगा। गर्मी-सर्दी पाकर अँखुए निकलते हैं। यहाँ अन्तःकरणमें ताप था और ऊपरसे वर्षा हुई उसकी, अथवा चन्दनकी शीतलता पाकर अँखुए निकले। [वे राज्य देकर विरहको शान्त करना चाहते हैं, इसीसे ये आँसू बहाकर विरहको बढ़ाते हैं। इसमें अलङ्कार है। श्रीरामविरहका बढ़ाना गुण है, राज्य पाकर श्रीरामविरहका शान्त होना दोष है। (खर्रा)]

टिप्पणी-२ *'सो दसा देखत'''* इति। उस (ऐसे भी) कष्टके समय भरतजीकी यह दशा अर्थात् रामजीमें उनकी ऐसी प्रीति, ऐसी सावधानता देखकर सब प्रेममें मग्न हो गये, देह-सुध भूल गये। जब सावधान हुए तब सराहने लगे कि भरत सहज स्नेहकी मर्यादा हैं। प्रभु-प्रतिकूल वार्ता न सहन कर सके—ऐसे प्रेमी! इसीका स्वरूप कवि सभा समाप्त होनेपर लिखते हैं—*'मातु सचिव गुरु पुर नर नारी। सकल सनेह बिकल भै भारी॥ भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥'*

टिप्पणी-३ *'धीर धुरंधर धीर धरि'* इति। व्याकुल थे, अतएव *'धीर धुरंधर धीर धरि'* कहा। अर्थात् कोरे प्रेमी ही नहीं हैं, उत्तर देनेमें भी समर्थ हैं, धीरज धरकर उत्तर देने लगे।

नोट—२ *'बचन अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर'* इति। उत्तर कड़ा होता है, गुरु, माता, वृद्ध मन्त्रियोंको उत्तर देना है। ऐसा उत्तर दिया कि किसीको दुःख न हो, यह *'उचित'* उत्तर है। ऐसी बातका उत्तर कड़ा होगा, पर इनका उत्तर अमृतरसमें मानो डूबे हुए शब्दोंमें दिया गया कि मधुर लगे। (शीला, पु० रा० कु०)

मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का॥१॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहौं कीन्हा॥२॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥३॥
उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥४॥

शब्दार्थ—'धरि'=ठहराकर, निश्चय करके।

अर्थ—श्रीगुरुजीने मुझे अच्छा उपदेश दिया (उसपर भी) उसमें प्रजा, मन्त्री आदि सबका सम्मत है॥१॥ माताने भी उसे उचित ठहराकर (समझकर) (वही) आज्ञा दी। मैं उसे अवश्य सिरपर धरकर करना चाहता हूँ॥२॥ (क्योंकि) गुरु, पिता, माता, स्वामी और मित्र (हितैषी) के वचनोंको सुनकर भला जानकर प्रसन्न मनसे करना चाहिये*॥३॥ उचित है या अनुचित, ऐसा विचार करनेसे धर्म नष्ट हो जाता है और सिरपर पापका भार लदता है॥४॥

नोट—१ (क) *'मोहि उपदेसु'''* इन वचनोंद्वारा पहले सब वचनोंकी बड़ाई करते हैं। (ख) *'मातु उचित धरि आयसु दीन्हा'* इति।—माताने कहा था कि *'तुम्ह ही सुत सब कहँ अवलंबा'* अर्थात् घरमें कोई और नहीं है, जो घरमें हो वही सबको सँभालता है। यह विचार उनका उचित है। बैजनाथजी लिखते हैं कि इससे यह भी व्यञ्जित किया कि औरोंके वचन अनुचित हैं।

नोट-२ (क) *'उचित कि अनुचित किए बिचारू'* से जनाया कि इसमें कुछ अनुचित है। क्या है? इसपर काष्ठ जिह्वास्वामी कहते हैं कि पिताके वचनको पालन करनेको कहते हैं। पिताने तो युवराज दिया है, न कि राज। राजा अब हैं नहीं, जब कोई राजा हो तब तो हम युवराज हों। इन्होंने सोचा नहीं कि बिना श्रीरामजीके राजा हुए हम युवराज कैसे हो सकते हैं—ऐसा उचित-अनुचित विचार

* पं० रामकुमारजी 'हित' को वाणीका विशेषण मानकर अर्थ करते हैं और कहते हैं कि इसमें यह भी अर्थ निकलता है कि गुरु-पितु-मातु और स्वामीकी वाणीको अवश्य मानकर करना चाहिये। पर यहाँ तो तीनकी ही आज्ञा हुई, एक 'स्वामी' बाकी हैं, उनकी भी मिले तब तो करें।

करनेसे भी गुरु आदिका अपमान होता है यह धर्मसंकट रामचरण छोड़ और कौन निवारण कर सकता है? भाव कि जब पादुकाएँ आवें तब ये युवराज हों। गीतावलीमें भरतजी कहते हैं—*'मेरो अवध धौं कहहु कहा है। करहु राज रघुराज चरन तजि लै लटि लोगु रहा है॥ धन्य मातु हौं धन्य लागि जेहि राज समाज ढहा है। तापर मोको प्रभु करि चाहत सब बिनु दहन दहा है॥ राम सपथ कोउ कछू कहै जिनि मैं दुख दुसह सहा है। चित्रकूट चलिए सब मिलि बलि छमिये मोहि हहा*है॥'* (२।६४।१—३)। (ख) *'धरमु जाइ सिर पातक भारू'* इति। भारी पाप होता है तो अङ्गीकार क्यों न किया? क्योंकि यह लौकिक धर्म है और रामसम्मुख होना परमधर्म है। परमधर्मके लिये इनका त्याग उचित है, यथा—*'सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'* (२९१।१) 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' (गीता १८।६६)

तुम्ह तउ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥५॥
जद्यपि एह समुझत हउँ नीकें। तदपि होत परितोष न जी कें॥६॥
अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावनु देहू॥७॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥८॥

शब्दार्थ—'**आचरत**'=आचरण करनेसे, चलनेसे। '**अनुहरत**'=योग्य, अनुसरण करने योग्य, यथा—*'सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही।'*

अर्थ—आप तो मुझे वही सरल शिक्षा दे रहे हैं जिसपर चलनेसे मेरा भला होगा॥५॥ यद्यपि मैं यह अच्छी तरह समझता हूँ तो भी मेरे जीको सन्तोष नहीं होता॥६॥ अब आप मेरी विनती सुन लीजिये और मेरे योग्य शिक्षा दीजिए॥७॥ मैं आपको उत्तर दे रहा हूँ, अपराध क्षमा कीजिए, (क्योंकि) साधु (महात्मा, सज्जन, अच्छे लोग) दु:खी मनुष्यके गुण-अवगुणको नहीं गिनते अर्थात् उसपर ध्यान नहीं देते, उसका बुरा नहीं मानते॥८॥

नोट—१ *'जद्यपि यह समुझत हउँ नीकें।'''''* इति। इस तरह सबके वचनोंका समर्थन किया कि आप लोगोंने जो कहा कि इसको माननेसे हित होगा यह ठीक है, इसमें संदेह नहीं। मैं अवश्य मान लेता। पर मेरे हृदयको इससे सन्तोष नहीं हो रहा है। अत: माननेसे लाचार हूँ।

नोट—२ *'अब तुम्ह बिनय'''''* इति। (क) भाव कि आपने उपदेश दिया है, मैं विनती करता हूँ, उसे सुन लीजिये, सुननेके पश्चात् फिर मुझे जो उपदेश दें वह मैं करूँ। (ख) *'मोहि अनुहरत'* कहकर जनाया कि जो उपदेश आपने दिया है वह मेरे योग्य नहीं है। क्योंकि उससे जीको सन्तोष नहीं हो रहा है। किस तरह हृदयको सन्तोष होगा यह मैं विनयमें कहूँगा, उसके अनुकूल मुझे उपदेश दें, मैं उसे करूँगा।

नोट-३ *'ऊतरु देउँ'''''* इति। (क) उपदेशको शिरोधार्य न करके उसपर कुछ कहना यही उत्तर देना है। गुरुजनोंकी इच्छा सुनकर उत्तर देना पाप है। यथा—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥'* (२६९।५), *'धरम जाइ सिर पातक भारू।'* अत: क्षमाकी प्रार्थना करते हैं। (ख) *'दुखित दोष'''* इति। '*दुखित*' कहकर उत्तर देनेका कारण बताया। दु:खमें सेवक स्वामीको उत्तर दे बैठता है, उसे विचार नहीं रह जाता, यथा—*'कटु कहिए गाढ़े परे।'* (वि० ३५) पर सज्जन लोग दु:खी सेवक आदिके इस दोषपर ध्यान नहीं देते, यथा—*'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिए बोलहिं न बिचारी॥ नाकहिं आए नाथ सों भय साँसति भारी। कहि आयो कीबी क्षमा निज ओर निहारी॥'* (वि० ३४), वैसे ही मैं बहुत दु:खी हूँ, अत: मेरे वचनका बुरा न मानियेगा, उसे क्षमा कीजियेगा। (ग) *'दोष गुन'*—यहाँ दोषको प्रथम कहा क्योंकि यहाँ *'दोष'* ही अभिप्रेत है। नहीं तो मुहावरा है *'गुण-दोष'* बोलनेका। द्वन्द्व बोलनेकी रीति है इसीसे दोषगुण दोनों साथ कहे गये।

* यही राजापुरका पाठ है। वस्तुत: 'दीख' होना चाहिये।

अथवा, आर्त मनुष्यके मुखसे यदि गुण (अच्छी बात) भी कोई निकल जाय तो भी यही समझा जायगा कि वह उसे ऐसा जानकर नहीं बोल रहा है।

दो०—पितु सुरपुर सियरामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु॥ १७७॥

हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥ १॥
मैं अनुमानि दीखि मन माहीं। आन उपाय मोर हित नाहीं॥ २॥

अर्थ—पिता तो स्वर्गमें हैं और श्रीसीतारामजी वनमें, और मुझसे राज्य करनेको कहते हो! इससे आप मेरा भला समझते हैं या कि अपना कोई बड़ा काम निकलना समझ रहे हैं? (दोनोंमें आपकी भूल है क्योंकि)॥ १७७॥ हमारा भला तो श्रीसीतापति रामचन्द्रजीकी सेवामें ही है; सो उसे माताकी कुटिलताने हर लिया॥ १॥ मैंने मनमें विचारकर देख लिया कि किसी और उपायसे मेरी भलाई नहीं है॥ २॥

रा० प्र०—१ *'पितु सुरपुर''''* इति। भाव यह कि—(क) जिसको हमारे बड़े त्याग गये उसको हम ग्रहण करें, यह उचित नहीं। वा, (ख) जिस राज्यके कारण ये दो अनर्थ हुए कि श्रीरामजी वनको गये और पिता सुरपुरको, वही राज्य हमें देकर हमको कहाँ भेजना चाहते हो? पातालको, नरकको या कहाँ? वा, (ग) इस राज्यकी चर्चामात्रसे ये अनर्थ हुए तो ग्रहण करनेसे न जाने क्या आफत ढा पड़े!

२—*'मोर हित'* से गुरुके *'हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई'*, *'मानहुँ मोर बचन हित जानी'* इन वचनों और माताके *'सो आदरिय करिअ हित जानी'* इस वचनपर लक्ष्य है। *'आपन बड़ काज'* से *'पालहु प्रजा सोक परिहरहू'*, *'तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारी'*, *'प्रजा पालि परिजन दुख हरहू'* और *'तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलंबा'* इत्यादिपर लक्ष्य है।

नोट—१ *'हित हमार सियपति सेवकाई'* में *'हमार'* बहुवचन अपने लिये प्रयुक्त किया है। यह अहंकारवाचक शब्द है। मेरे जानमें यह और जगह दोष है पर श्रीरामजीके सम्बन्धमें अभिमान प्रशंसनीय है, यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'* (प्र० सं०) अथवा, *'हमार'* से सचिवादि प्रजा और अपना सभीका हित इसीमें सूचित किया। इस तरह यह *'मोर हित'* और *'आपन बड़ काज'* का ही उत्तर है। पर *'आपन'* में स्वयं अपना अन्तर्भाव करते हैं और पश्चात् *'मोर हित'* का जो एक ही उपाय है उसे बताते हैं।' (प० प० प्र०) किसीका मत है कि *'हमार'* से माण्डवीजी-सहित अपनेको कहा, वे श्रीसीताजीकी सेवामें रहेंगी। पर यह क्लिष्ट कल्पना है।

पाँड़ेजी—इस सभामें चार सूत्र हैं, दो (नीति और धर्म) वसिष्ठजीके वाक्यमें और दो (हमारा हित और सबका काज) भरतजीके वाक्यमें; इन्हीं दोनोंकी व्याख्या इनमें है।

नोट-२ *'सो हरि लीन्ह''''*। भाव कि जब अपना हर लिया हुआ धन फिर मिले तब अपना हित हो सकता है, अन्यथा नहीं। (रा० प्र०)

पु० रा० कु०—*'मैं अनुमानि दीखि मन माहीं'* इति। गुरुने कहा था कि *'यह सुनि समुझि''''सिर धरि राज रजायसु करहू'* उसीका उत्तर यहाँ है कि हमने मनमें विचार कर देखा कि सीतापतिकी सेवासे ही हमारा हित है, दूसरे उपायसे हित नहीं; दूसरोंका हित भले ही हो पर मेरा तो नहीं है।

सोक समाजु राजु केहि लेखें। लषन राम सिय बिनु पद देखें* ॥ ३॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥ ४॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जाँय जप जोगा॥ ५॥

---

* किसी-किसीने 'पद बिनु' पाठ दिया है।

जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सबु बिनु रघुराई॥ ६॥
जाउँ राम पहिं आयेसु देहू। एकहि आँक मोर हित एहू॥ ७॥

शब्दार्थ—**सोक समाजु**=जो शोकका समुदाय है, शोकसे पूर्ण है। **आँक**=बात, दृढ़ निश्चय, निश्चित सिद्धान्त, यथा—'*एकहि आँक इहइ मन माहीं*'।

अर्थ—शोकका समुदाय यह राज्य बिना श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीके चरणोंको देखे किस गिनतीमें है (अर्थात् चरणोंमें यदि प्रेम नहीं तो राज्य भी व्यर्थ ही है)॥ ३॥ जैसे बिना कपड़ेके बोझभर गहने (पहिने होना भी) व्यर्थ हैं, बिना वैराग्यके (कोरा) ब्रह्मविचार व्यर्थ*॥ ४॥ रोगी शरीरके लिये बहुत-से विषयभोग-विलास व्यर्थ, बिना भगवद्भक्तिके जप-योग व्यर्थ और बिना जीवके सुन्दर देह व्यर्थ हैं॥ ५॥ वैसे ही बिना रघुराई श्रीरामजीके मेरा सब कुछ व्यर्थ है। अर्थात् और जिस-जिससे मेरा हित कहा जाता है वह सब व्यर्थ है॥ ६॥ मैं श्रीरामजीके पास जाऊँ, आप मुझे आज्ञा दें। मेरे हितका तो यह एक ही '*आँक*' है (भाव यह कि ब्रह्माने मेरे हितमें यही एक अङ्क लिखा है, और जिस राज्य आदिमें मेरा हित आप मानते हैं वे शून्य हैं, उनसे मेरा हित कदापि नहीं) निश्चय एक यही है, इसीमें मेरा भला है॥ ७॥

नोट—१ '*सोक समाजु राजु केहि लेखें*……' इति। (क) '*केहि लेखें*' अर्थात् इससे अपना हित नहीं हो सकता। रा० प्र० कार यह भी अर्थ करते हैं कि 'शोक-समाजमें राज किस गिनतीमें है'। भाव कि शोकमें सुखदाई वस्तु भी दुःखदाई होती है। हमारे ही कारण श्रीदशरथ महाराज मारे गये, हमारे ही लिये श्रीसीता-राम-लक्ष्मणको वन भेजा गया। हमारे ही लिये तीनों वनको गये। यह सब इस राज्यके कारण हुआ। कैकेयीने राजमाता बननेके लिये यह सब ठाट ठटा। यथा—'*भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू।*'……'*जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा॥*' (४२। १-२) '*तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।*' (१२५) सारी प्रजाको इसीसे शोक-संताप हुआ कि श्रीरामजीको वनवास हुआ। मुझे भी यही शोक जला रहा है। यही बात श्रीभरतजीने भरद्वाजजीसे कही है—'*राम लषन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनिबेष फिरहिं बन बनहीं॥*'''*एहि दुख दाह दहइ दिन छाती।*' (२११। ८, २१२-१) अतः यह राज्य भी दुःखद है। अथवा, भाव कि श्रीरामजीके न होनेसे राज्यको '*सोक समाजु*' कहा जैसे श्रीसीताजीने कहा है। यथा—'*तनु धनु धाम धरनि पुर राजू। पति बिहीन सब सोक समाजू॥*' (६५। ४) अथवा, (बैजनाथजीके मतानुसार) भाव कि 'जिसे आप मेरे लिये सुखका समाज समझते हैं वह सब दुःखका समाज है। सुखद समाज तब हो जब शत्रुघ्न लक्ष्मणकी, माण्डवी सीताजीकी और मैं श्रीरामजीकी सेवा करूँ। इसीसे '*लषन राम सिय*' तीनोंको कहा।' (बै०)

नोट-२ (क) यहाँ पहले लक्ष्मणजीका नाम लेकर जनाया कि—भगवान्‌की अपेक्षा भागवतका आदर करना प्रथम उचित है क्योंकि '*राम तें अधिक रामकर दासा।*' (७-१२०) (रा० प्र०) वा, भागवत-दर्शन बिना भगवत्-दर्शनका अधिकारी नहीं होता—(पु० रा० कु०) प्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि मानसमें प्रायः '*राम लषन सिय*' या '*लषन राम सिय*' यही अनुक्रम मिलता है। '*लषन राम सिय*' यह क्रम श्रीभरतजीके वचनोंके अतिरिक्त अन्यत्र भी मिलता है। यथा—'*लषन राम सिय जाहु बन भल परिनाम न पोच।*' (२८२) (श्रीकौसल्यावाक्य), '*लषनराम सिय पंथ कहानी। पूछत सखहि कहत मृदु बानी॥*' (२१६। ६) '*लषन राम सिय सुनि सुर बानी। अति सुखु लहेउ न जाइ बखानी॥*' (२३३। ३) (कविवाक्य) अतः '*लखन*' शब्दमें विशेष भाव निकालना क्लिष्ट कल्पना है। (ख) शंका—श्रीलक्ष्मणजी श्रीभरतजीसे छोटे हैं, तब उन्होंने उनके साथ 'पद' शब्दका प्रयोग क्यों किया? समाधान—श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीतारामसेवापरायण होकर उनके साथ वनको गये। इससे श्रीभरतजी उनको बड़भागी और अपनेको अभागी मानते हैं। यथा—'*अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारबिंदु अनुरागी।*' (७। १। ३) '*को*

* इसका अर्थ किसी-किसीने ऐसा किया है—'बिना ब्रह्मज्ञानके वैराग्य व्यर्थ है'।

तिभुवन मोहि सरिस अभागी।' (१६४। ६) जैसे वयोवृद्ध, तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आदि वृद्धके अनेक प्रकार हैं वैसे ही 'राम सेवा' वृद्ध भी पूजनीय और आदरणीय है। (प० प० प्र०) अथवा, *'राम सिव'* शब्द अन्तमें आये हैं, उन्हींके लिये *'पद'* शब्द है। अर्थ करनेमें बचाकर अर्थ कर लेना चाहिये, जैसे *'हृदय सराहत सीय लुनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई॥'* (१। २३७। १) में *'दोउ भाई'* कहा, परन्तु श्रीसीताजीकी सुन्दरताकी सराहना केवल श्रीरामजी कर रहे हैं, न कि दोनों भाई।

पु० रा० कु०—'यहाँ वस्त्र बिना ऊपरका दुःख, वैराग्य बिना हृदयका दुःख, समस्त भोगसुख भी दुःख, जपयोग गये (हरिभक्ति बिनु?) धर्म-दुःख, जीव बिनु देह-दुःख, राम बिना 'मोर समस्त दुःख'।

पाँड़ेजी—यहाँ दशरथजी वसन और राज्य भूषण हैं; राज्य ब्रह्मविचार और लक्ष्मणजी वैराग्य; राज्य भोग और भरत रामविरहके रोगी; राज्य जपयोग और श्रीजानकीजी हरिभक्ति; राज्य सुन्दर शरीर है और रघुनाथजी जीव। मेरा सब कुछ रघुराई बिना व्यर्थ है। बाबा हरिहरप्रसाद पाँड़ेजीके इस भावका यह आशय कहते हैं कि—'रघुनाथजीके रहनेपर राजारूपी वस्त्र बिना भी राज्य भूषण व्यर्थ न होता, लक्ष्मणरूप वैराग्यके सहित राज्यरूप ब्रह्मविचार बना रहता, श्रीरामवियोगरूप-रोगरहित राज्यरूप भोग बना रहता, हरिभक्तिरूप श्रीजानकीसहित राज्यरूप जप-योग बना रहता। जीवरूप श्रीरघुनाथजीसहित राज्यरूप सुन्दर शरीर बना रहता। पर यह अर्थ प्रकरणके उपयोगी नहीं।' (रा० प्र०)

प० प० प्र०—समस्त विभूषणोंसे विभूषित शरीर शोभाहीन होता है, उससे शरीरकी विडम्बना और भूषणोंका अपमान ही होता है। बिना वैराग्यका ब्रह्मविचार उपहासास्पद और शोक-मोह बढ़ानेवाला होता है, यथा—*'सब नृप भए जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥', 'पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोहि बिटप नहिं सकहिं उपारी॥'* (६। ६३। १४) रोगमें भोग-सामग्रीके सेवनसे दुःख बढ़कर विनाशका कारण होता है। बिना हरिभक्तिके जप-योगादि साधनोंद्वारा मोक्षलाभ होनेपर भी वह मोक्षसुख अविनाशी नहीं होता, यथा—*'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभक्ति बिहाई॥'* जीव बिना शरीर अपवित्र, स्थान अपवित्र और वह कुलमात्र अपवित्र होता है। इन पाँचों उपमाओंमें जो दोष बताये हैं वे सब राज्य-ग्रहण करनेसे अपनेमें हो जायँगे यह सूचित किया। अर्थात् मेरी विडम्बना होगी और मैं पृथ्वीके लिये भार हो जाऊँ, राज्यग्रहण मेरे लिये उपहासास्पद और शोक बढ़ानेवाला होगा, रामवियोगरूपी कुरोगमें राज्यरूपी भोगसे मेरा विनाश होगा, मेरा दुःख बढ़ जायगा, राज्य स्वीकार करनेसे रामविमुख हो जाऊँगा और वह मुझको तथा पृथ्वीको भी सुखदायक न होगा। (यही भाव आगे *'मोहि राज हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥'* से स्पष्ट किया है) राजा बननेसे मैं अपवित्र अर्थात् अधर्मबुद्धि हो जाऊँगा। *'बादि मोर सब बिनु रघुराई'* का ही विस्तार आगे *'मोहि नृप करि भल आपन चहहू'* से *'जेहि लगि सीय राम बनवासू।'* (१७९। ३) तक है।

नोट—३ इन उदाहरणोंसे दिखाया कि एकके बिना एक ही व्यर्थ है और फिर अन्तमें कहा कि मेरा तो 'एक' बिना लोक-परलोक, तन-धन 'सब कुछ' व्यर्थ है। वहाँ तो एक-एकको एक-ही-एक दुःख और मुझको समस्त दुःख।

नोट-४ ☞ श्रीसीताजीने भी तीन उपमाएँ यही दी हैं। दोनोंका मिलान इस प्रकार है—

श्रीसीताजी		श्रीभरतजी
तनु धन धाम धरनि पुरराजू। *पति बिहीन सब सोक समाजू॥*	१	*सोक समाजु राजु केहि लेखें।* *लखनु राम सिय बिनु पद देखें॥*
भोग रोग सम	२	*सरुज सरीर बादि बहु भोगा।*
भूषन भारू	३	*बादि बसन बिनु भूषन भारू*
जिय बिनु देह	४	*जाय जीव बिनु देह सुहाई*
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं।	५	*बादि मोर सब बिनु रघुराई*

मो कहुँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। ६ *एकहि आँक मोर हित एहू। जाउँ राम पहिं*······

जोड़की चौपाइयोंमें जो भाव हैं वैसे ही भाव यहाँकी चौपाइयोंके हैं। जैसे वहाँ (पति श्रीराम) बिना सब व्यर्थ, अशोभित और दुःखद, वैसे ही यहाँ श्रीराम बिना राज्य व्यर्थ और दुःखद। अन्तके *'सब बिनु रघुराई'* के सम्बन्धसे वस्त्र, विरति, स्वस्थ शरीर, हरिभक्ति और जीव श्रीरामजीके स्थानपर हैं और भूषणभार, ब्रह्मविचार, भोग, जपयोग और देह राज्य एवं सर्वस्वके स्थानमें हैं। उपर्युक्त उदाहरण देकर अन्तमें *'बादि मोर सब बिनु रघुराई'* कहनेसे यहाँ दृष्टान्तकी झलक आ जाती है। एकके बिना दूसरेको व्यर्थ कहनेमें 'विनोक्ति अलङ्कार' हुआ। यहाँ 'विनोक्ति माला है।'

*** 'एकहि आँक मोर हित एहू' इति।**

पाँड़ेजी—भाव यह कि आपने बहुत *'आँक'* कहे पर यदि आप यह एक आँक (अक्षर) कह दें कि *'जा'* तो मेरा हित इस एक *'आँक'* में है।

पण्डित रामकुमारजी कहते हैं कि *'आँक'* का अर्थ है 'बात' वा 'निश्चय'। ऊपर किया हुआ अर्थ संगत नहीं है। आगे फिर यह शब्द आया है, यथा—*'एकहि आँक इहै मन माहीं।'* (१८३। २) वहाँ उस अर्थका निर्वाह कैसे करेंगे? *'एकहि=एक यही।'*

रा० प्र०—'हमारे हितमें यह एक ही आँक है। भाव कि ब्रह्माजीने एक यही अङ्क हमारे हितमें लिखा है, दूसरा नहीं। वा, निश्चय एक यही है, दूसरा नहीं। यहाँतक आपने राज्यादि हितका निराकरण करके श्रीरामजीके पास जाना हित ठहराया। आगे *'कै आपन बड़काज'* का निराकरण करते हैं।'

नोट—इसी *'एकहि आँक·····'* को शेष सम्पूर्ण भाषणमें पुष्ट किया है।

भरतजीका प्रत्युत्तर

मानस हंस—भरतजीके भाषणके प्रारम्भ, मध्य और समाप्ति कैसी चतुराईसे भरे हैं; यह ध्यानमें आते ही समझ पड़ जाता है कि गोसाईंजी किस दर्जेके व्यवहार-निपुण थे। २—भरतजीके भाषणका मुख्य इङ्गित यह है—*'यहि ते जानहु मोर हित कै आपन बड़ काज।'*

इस प्रश्नसे उन्होंने सभीको उलझनमें डाल दिया और सभीकी बुद्धिको कुण्ठित कर दिया। औरोंकी तो क्या बल्कि वसिष्ठजीको भी इस पेंच भरी उलझनसे निकलनेकी न सूझी, इसी कारण वे मौन साध रहे। इस प्रश्नात्मक भाषणपर किसीकी भी बुद्धि न चल सकनेके कारण सभीको चुप होकर भरतजीका ही आसरा ताकना पड़ा। अन्तमें इन सबका निर्णय भरतजीने स्वयं ही इस प्रकार किया—*'जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित एहू॥ मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥'*

इतना कहते ही विचारणीय प्रश्नका पक्ष एकदम उलट गया और वहाँके सभी उपस्थित सभासदोंपर बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी। यदि किसीने जरा भी विरोध किया होता तो वह तुरंत ही कैकेयीके पक्षमें शामिल समझा जाता। भरतजी कैसे उच्च श्रेणीके राजनय-निपुण थे, यह अब देख लीजिये।—इसको कहते हैं सेरको सवासेर।

मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥ ८॥

दो०—कैकेई सुअ*कुटिल-मति राम बिमुख गत लाज।

तुम्ह चाहत सुख मोह बस मोहि से अधमु के राज॥ १७८॥

कहौं साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरम सील नरनाहू॥ १॥

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा†रसातल जाइहि तबहीं॥ २॥

* 'कैकेइ सुअन'—(रा० प्र०), 'कैकेई सुअ'-(ला० सीताराम)।

† 'राज'—(लाला सीताराम)। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि राजापुरकी पोथीमें दोनों पाठ दिये हुए हैं। 'राज रसातल' और 'रसा रसातल'। रसा रसातलमें यमक अलंकार है।

शब्दार्थ—**रसा**=पृथ्वी। **रसातल**—पुराणानुसार पृथ्वीके नीचेके सात लोकोंमेंसे छठा लोक। कहते हैं कि इसकी भूमि पथरीली है और इसमें दैत्य, दानव तथा पाणि नामके असुर रहते हैं=पाताल। रसातलमें पहुँच जाना मुहावरा है—बरबाद होने, नष्ट होनेके अर्थमें। धर्मशील=धर्ममें परिपूर्ण, धर्मपरायण, धर्ममें है स्वभाव जिसका।

अर्थ—आप मुझे राजा बनाकर अपना भला चाहते हैं। यह भी आप स्नेहकी जड़ता (वा स्नेहरूपी जड़ता) के वश ऐसा कह रहे हैं॥ ८॥ कैकेयीका पुत्र, कुटिलबुद्धि, रामविमुख (उनके प्रतिकूल, द्रोही) और निर्लज्ज ऐसे मुझ अधमके राज्यसे आप मोहके वश होनेसे सुख चाहते हैं अर्थात् मेरे राज्यसे सुख चाहना भ्रममात्र है॥ १७८॥ मैं सत्य कहता हूँ। आप सब सुनकर विश्वास करें। धर्मिष्ठको राजा होना चाहिये॥ १॥ ज्यों ही आप मुझे हठ करके राज्य देंगे, (अर्थात् मैं तो बसभर लूँगा नहीं, जो जबरदस्ती ही सब मेरे मत्थे मढ़ेंगे तो) त्यों ही पृथ्वी पातालको चली जायगी॥ २॥

☞ इन चौपाइयोंमें राजनीति है, राजा कैसा होना चाहिये यह बताया है। इनका भाव यह है कि यदि कहो कि राज्यसे अवध भरको लाभ है और इसमें केवल तुम्हारा लाभ है तो इसपर कहते हैं कि यह आपकी भूल है। मेरे राजा होनेमें सबकी हानि है, किसीका लाभ उससे नहीं हो सकता। राजा धर्मात्मा होना चाहिये, अधर्मी राजा होनेसे राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। राज्यमें दुकाल आदि जितनी आपत्तियाँ प्रजापर पड़ती हैं वे सब राजाके अधर्मसे। अधर्मीको राजा न बनावे, यह प्रजा, मन्त्री आदिको उपदेश है।

गौड़जी—राजापुरकी पोथी ग्रन्थकारकी लिखी है इस बातका एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उसमें इस स्थलपर रसापर हरताल देकर 'राजु' बनाया गया है, यह पाठान्तर ग्रन्थकारका ही किया हुआ हो सकता है। परंतु यह धारणा सहज ही भ्रमात्मक सिद्ध हो जाती है। 'राजु' पाठ कर देनेसे एक ही अर्धालीमें एक ही वाक्यमें बिना प्रयोजन ही पुनरुक्ति आ जाती है। 'रसा' पाठ रहनेसे यह दोष भी नहीं होता और यमकालङ्कार भी सहज ही आ जाता है। यदि पहले 'राज' लिखा होता और पीछे 'रसा' बनाया जाता तो अवश्य ग्रन्थकारद्वारा संशोधन समझनेके लिये प्रबल कारण थे। यह संशोधन तो ऐसे लेखकका किया जान पड़ता है जो शायद 'रसा' का अर्थ भी नहीं समझता था और काव्यका 'रसिक' भी न था, जो रसाको बदलनेमें आपन्न दोषसे बचनेका भी यत्न कर सकता। 'रसा' न रुचा या सारी पृथ्वीके रसातल जानेमें शंका थी तो 'देस' रखा जा सकता था। अनुप्रास न बनता तो भी पुनरुक्ति दोष न आता।

* 'सोउ सनेह जड़ताबस कहहू' *

पाँड़ेजी—'*जड़ता*' शब्द गुरु आदिके लिये कठोर है, इसीसे पूर्व '*अमियरस बोरी*' कह आये। 'स्नेहके वश' इस पदरूपी अमृतमें डुबोकर कहते हैं। जिसका भाव यह है कि आप सब मेरे स्नेहवश जड़ हो गये हैं।

पु० रा० कु०—स्नेह जड़ है। कथनका भाव यह है कि स्नेहवश वह न कीजिये जिसमें परलोक बिगड़े।

रा० प्र० (क) स्नेहवश गुरु और माता, जड़तावश मन्त्री आदि। वा,(ख) सबने रामविमुख करानेवाला वचन कहा है, इसीसे सबको यह कटु वचन कहा। जैसा '*तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषण बंधु भरत महतारी। हरि हित गुरु बलि पति ब्रजबनितनि भये मुद मंगलकारी॥*' (वि० १७४) इस पदसे स्पष्ट है। [नोट—यह साधारण बात सबके लिये कही गयी। गुरु और माताके लिये कुछ, औरोंके लिये कुछ, ऐसा नहीं। इसके आगे गुरु और माताको पृथक्-पृथक् भी कहते हैं।]

नोट—१ '*कैकेई सुअ कुटिल मति*''' इति। (क) भाव कि जिसमें एक भी दोष हो उसके राज्यमें सुख नहीं होता और मुझमें तो चार दोष हैं—कैकेयीका पुत्र, कुटिलमति, रामविमुख और निर्लज्ज। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि 'कुटिलबुद्धि रामविमुख और निर्लज्ज कैकेयीका मैं पुत्र हूँ' जिससे जो उत्पन्न होता है वह भी वैसा ही होता है। अतएव मुझ ऐसे अधमके राज्यसे क्या सुख हो सकता है? (रा० प्र०) (ख) कुटिलमति है। अतः वन देकर राजाके प्राण लिये; रामविमुख है अतः उनको वन दिया। (बै०) '*गतलाज*' हूँ इससे सभामें सबको उत्तर देता हूँ और मुँह दिखा रहा हूँ, बातें सुनता हूँ। (पाँड़ेजी, बै०) पुनः, कैकेयीका सुत हूँ अतः कुटिल हूँ, मेरे हेतु वन हुआ, अतः रामविमुख हूँ।

(ग) *'तुम्ह चाहत सुख'* ''''—भाव कि अधर्मीके राज्यमें प्रजाको सुख नहीं मिल सकता, यथा—दोहावली—*'चढ़े बधूरे चंग ज्यों ज्ञान ज्यों सोक समाज। करम, धरम, सुख, संपदा त्यौं जानिबे कुराज।'* (५१३) (घ) दोहेमें 'दूसरा समुच्चय' और 'सार' अलङ्कार हैं।

नोट-२—*'रसा रसातल जाइहि'* अर्थात् हमारे लिये कैकेयीने राज्य माँगा। इतनेका तो यह फल सबको मिला और जो राज्य मिलेगा तब तो पृथ्वी मेरे पापके भारसे पातालको अवश्य ही चली जायगी। न जाने कैसा भारी अनर्थ न हो जाय। (बै०) अधर्मके राज्यसे पृथ्वीपर भार होता है, यथा—*'अतिसय देखि धर्म कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥ गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक पर द्रोही॥'* (१। १८४) (ख) यह *'रसा'* है, रसको पैदा करनेवाली है, इससे 'अनरस' न सहा जायगा कि बड़ेके रहते छोटा राजा हो। आगे बताते हैं कि प्रतिज्ञा-बद्ध होनेसे राजाने श्रीरामको वन दे दिया पर छोटेको राज्य, यह अनर्थ वे भी न सह सकते थे; इसीसे वे स्वर्गको चले गये। (पाँड़ेजी)

वि० त्रि०—*'मोहि राज हठि'''''* इति। भरतलाल कहते हैं *'कहौं साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिअ धरम सील नरनाहू॥'* **'राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥'** राजा धार्मिक हो तो प्रजा धार्मिक होती है। राजा पापी हो तो प्रजा पापी होती है, राजा सम हो तो प्रजा सम होती है। प्रजा राजाका अनुसरण करती है, जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है। अतः यदि आप लोग हठ करके मुझे राज्य स्वीकार करनेके लिये बाध्य करेंगे तो समझ लीजिये कि राज्य रसातलको चला जायगा। प्रजाके सामने यह आदर्श खड़ा हो जायगा कि पिताको मारकर भाईको निकाल बाहर करके, जैसे हो तैसे धनको हथियाना चाहिये, फिर सौ धर्मशास्त्र और हजार कानूनके रोके महा अनर्थ नहीं रुकेगा; और राज्य रसातलको चला जायगा। भरतजीकी यह भावना ऐसी मार्मिक थी कि स्वयं रामजीको इसका अनुमोदन करना पड़ा, यथा—*'कहहुँ सुभाव सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥'*

मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीयराम बनबासू॥ ३॥
रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा। बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा॥ ४॥
मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू॥ ५॥
बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहाँसू॥ ६॥

शब्दार्थ—**सठ**=दुष्ट। **अबासू**=(सं० आवास)=निवास-स्थान, घर यथा—*'बाजत नन्द अवास बधाई'*—*'कबिरा कहा गरबिया ऊँचा देखि अवास। काल परे भुँइ लोटना ऊपर जमिहैं घास॥'*

अर्थ—मेरे समान कौन पापका स्थान अर्थात् बड़ा पापी होगा कि जिसके कारण श्रीसीतारामजीको वनवास हुआ॥ ३॥ राजाने श्रीरामजीको वन दिया और उनके बिछुड़ते ही स्वर्गको चल दिये॥ ४॥ मैं ही दुष्ट सब अनर्थोंका कारण हूँ, बैठा हुआ सावधान सब बातें सुन रहा हूँ॥ ५॥ बिना रघुवीर श्रीरामजीके घरको देखकर तथा जगत्में हँसी और निन्दा सहकर भी प्राण बने रहे* ॥ ६॥

नोट—१ *'बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा'* इति। भाव यह कि यदि छोटेको राज्य उचित होता, यदि मेरे राज्यसे सुख होता तो वे जीते रहते, पर यथार्थ ऐसा है नहीं। मेरा राजा होना अधर्म है, वे इस अधर्मको कैसे सह सकते थे? इसीसे उन्होंने मेरा तिलक देखना भी अनुचित समझा। हमारे राज्यसे उन्हें मृत्यु प्यारी लगी। राजाने कैकेयीसे कहा है कि नीतियुक्त इक्ष्वाकुकुलमें यह बहुत बड़ा नीतिविरुद्ध काम होने जा रहा है—**'इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम्। अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः॥'** (वाल्मी० २। १२। १९) कुलपरम्परासे आया हुआ और गुणवानोंद्वारा प्रशंसित तथा

* यहाँ लक्षणामूलक प्रस्ताव विशेष व्यङ्ग है कि जब इतनी बड़ी निन्दा सहकर प्राण बने हैं तब लोगोंका राज्य भोगनेके लिये आग्रह करना उससे बढ़कर अपवाद नहीं है—(वीरकवि)।

सुव्यवस्थित इक्ष्वाकुकुलका पालन अव्यवस्थित हो गया। इत्यादि (श्लोक ९१ इ०) मानसमें भी कहा है—*'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति।'*

नोट-२—*'मैं सठु सब अनरथ कर हेतू।'''''* इति। शठ, यथा—'**निकृतस्त्वनृजुशठः**' (**इत्यमरः**) '**सचेतू**' का भाव कि इतना अनर्थ होनेपर भी मैं चैतन्य-सावधान बैठा सब सुन रहा हूँ, मृत्युकी कौन कहे, मूर्छा भी नहीं आती।

नोट—३ *'सहि जग उपहाँसू'* अर्थात् प्राण रह गये तो जगत्‌में उपहास सहेंगे। लोग हँसेंगे कि एक राम दशरथ-पुत्र हुए कि उनके वचनको मानकर एवं भाई भरतके लिये वनको गये और एक ये राजाके पुत्र हैं कि अपने बड़े भाईके रहते धर्मके विरुद्ध राज्य स्वीकार किया। पुनः रामके विरहमें राजाने शरीर छोड़ दिया और ये उनके पुत्र होकर राज्य भोग कर रहे हैं, इत्यादि।

राम पुनीत बिषय रस रूखे। लोलुप* भूमि भोग के भूखे॥ ७॥
कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई। निदरि कुलिसु जेंहि लही बड़ाई॥ ८॥
दो०—कारन तें कारजु कठिन होइ दोसु नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर॥ १७९॥
कैकेई भव तनु अनुरागे। पावँर† प्रान अघाइ अभागे॥ १॥
जौं प्रिय बिरह प्रान प्रिय लागें। देखब सुनब बहुत अब आगें॥ २॥

शब्दार्थ—'**अस्थि**'=हड्डी। उपल=पत्थर। अनुरागे=प्रेम करनेसे।

अर्थ—(मेरे प्राण) श्रीरामरूपी पवित्र विषयके रससे उदासीन हैं। लोलुप हैं। पृथ्वी और विषय-भोगके भूखे हैं‡॥ ७॥ अपने हृदयकी कठोरता कहाँतक कहूँ कि जिसने वज्रका निरादर करके बड़ाई पायी है। अर्थात् यह वज्रसे भी अधिक कठोर है॥ ८॥ कारणसे कार्य कठोर होता है। इसमें मेरा दोष नहीं। हड्डीसे वज्र और पत्थरसे लोहा भयंकर (घोर, भीषण) और कठोर होता है॥ १७९॥ कैकेयीसे उत्पन्न हुए इस शरीरसे नीच अभागे प्राण भरपेट भोगमें लगे हुए हैं॥ १॥ जो प्यारेके वियोग-दुःखमें भी प्राण अधिक प्यारे लगे हैं तो आगे अब और भी बहुत कुछ देखूँ सुनूँगा॥ २॥

टिप्पणी—१ *'राम पुनीत बिषय रस रूखे।'''''* इति। ऊपर जो कहा कि प्राण उपहास सहकर भी रहे, उसका यहाँ कारण कहते हैं कि रामरूपी पुनीत विषय रससे रूखे और लोलुप हैं, भूमि-भोग विषयके भूखे हैं, इसीसे शरीरमें बने हैं।

टिप्पणी २—*'कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई।'''''* इति। अर्थात् मेरा हृदय वज्रसे भी अधिक कठोर है, यह कहकर फिर दृष्टान्त देकर बताते हैं कि ऐसा तो होना स्वाभाविक है। पिताने रामवियोगमें शरीर

* लोलप—(ला० सीताराम)।

† राजापुर और काशीकी प्रतिमें 'पाव न' पाठ है 'पाँवर' पाठसे टीकाकारोंने ये अर्थ किये हैं—'नीच प्राण परिपूर्ण अभागे हैं।' वा, 'नीच और अभागे प्राण अघा लें।' वा, 'नीच प्राण दुर्भाग्यसे अघावेंगे।' 'पाव' एक वचन है 'अभागे' बहु वचन है। अतः 'पाव' क्रियाका कर्ता अभागे शब्द नहीं हो सकता। पावन प्रान पाठसे क्लिष्ट और असम्भव अन्वय होता है। शुद्ध पाठ 'पाँवर' [=पामर=नीच] है, 'पावन' नहीं है। गोस्वामीजीकी लिपिमें 'र' दोनों तरहसे लिखा देखा गया है। परंतु राजापुरवालीमें एक ही प्रकारसे है, जिसमें 'र' और 'न' में अत्यन्त कम अन्तर है, जिस कारणसे 'पावर' को 'पावन' और 'पावन' को 'पावर' पढ़ना सहज है। संदिग्ध पाठ और लिपि दोनोंका कारण अक्षरकी समानता है। अन्वय इस प्रकार है 'पावँर अभागे प्रान अघाइ (कै) कैकेयी भवतनु (महँ) अनुरागे हैं।'(गौड़जी)

‡ वीरकवि—यहाँ भी लक्षणामूलक प्रस्ताव विशेष व्यङ्ग है कि स्वामी राजसे उदासीन हैं और मैं उसका लोभी हूँ। इसीसे सभी हितचिन्तक एक स्वरमें राज्य भोग करनेको कहते हैं। यह सुनकर भी छाती नहीं फटती''''।

छोड़ दिया और मेरे प्राण न छूटे, इससे मैं पितासे कठिन हूँ कठोर हूँ। प्रमाण, यथा—*'रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा। बिछुरत*…', और *'मैं सठु सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू॥'* यह अर्थ प्रसंगके अनुकूल है।

नोट—१ यही भाव रा० प्र० ने लिखा है। पर पंजाबीजी और बैजनाथजीने 'कारण' से कैकेयीको लिया है। अर्थात् कैकेयीसे मैं पैदा हुआ अतएव उसके हृदयसे कठोर मेरा हृदय होना ही चाहिये। इसकी पुष्टि फिर आगेकी चौपाईसे करते हैं।

नोट—२ *'लोह कराल कठोर'* इति। मैं कुल-परम्परा-धर्मको काटनेवाला भयंकर तलवाररूप हुआ। ऐसा भाव पाँड़ेजीने दिया है पर यहाँ इसकी चर्चा नहीं। यहाँ केवल सहन करनेमें 'कठोरता' दिखानेका प्रसङ्ग है। हड्डीसे वज्र अधिक कठोर होता है। दधीचि महर्षिकी कथामें कह आये हैं कि उनकी हड्डियोंसे वज्र निकाला गया और उसका धनुष बनाया गया। पत्थरसे लोहा होता है जो पत्थरसे कठोर होता है। पत्थर घनकी चोट नहीं सह सकता और लोहा सह लेता है इसी तरह हम सबके उपहासके वचन क्यों न सह सकें।

टिप्पणी—३ *'कैकेई भव तनु अनुरागे।*…' इति। भाव कि हमारा जन्म होनेको क्या यही माता थी, और भी तो थीं उनसे होता, इसमें क्यों प्राण आकर टिके। अत: ये भरपूर अभागे हैं।

टिप्पणी—४ *'देखब सुनब बहुत अब आगें'* इति। अर्थात् अभी तो यही देखा है जो आगे कहते हैं। अर्थात् लक्ष्मणरामसीताको वन, पतिहित, अपनेको वैधव्य और अपयश, प्रजाको शोकसंताप और मुझको सुख-सुयश; आगे १४ वर्ष तक न जाने क्या-क्या देखनेको मिलेगा।

लषन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा॥ ३॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोकु संतापू॥ ४॥
मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥ ५॥
एहि तें मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका॥ ६॥

शब्दार्थ—'**बिधवपन**'=विधवापन, वैधव्य, रँड़ापा।

अर्थ—श्रीसीतारामलक्ष्मणजीको वन दिया। स्वर्ग भेजकर पतिका भला किया॥ ३॥ वैधव्य और अपयश स्वयं लिया। प्रजाको शोक और संताप (दाह दु:ख) दिया॥ ४॥ मुझे सुख, सुयश और सुन्दर राज्य दिया—इस प्रकार कैकेयीने सबका काम किया॥ ५॥ अब इससे भी मेरा और क्या भला होगा? उसपर भी आप लोग राज्यतिलक देनेको कहते हैं॥ ६॥

दीनजी—१ *'मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू।*…' अर्धाली ५ में बहुत ही उत्तम लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्य ध्वनि है।

२—पाठकोंको स्मरण रखना चाहिये कि आगे *'घालेसि सब जग बारह बाटा'* कहा जायगा। वे बारह रास्ते यही हैं। (१) रामको वनका रास्ता, (२) सीताको वनका रास्ता, (३) लक्ष्मणको वनका रास्ता, (४) दशरथको अमरपुरका रास्ता, (५) अपनेको विधवापनका रास्ता, (६) अपयशका रास्ता, (७) प्रजाको शोकका, (८) प्रजाको संतापका, (९-१०-११) मुझको सुखका, सुयशका, सुराजका रास्ता और (१२) सबको सुकाजका रास्ता।

नोट—वीरकवि—यहाँ वाच्यार्थ अर्थान्तरद्वारा भासित होता है कि जिस राज्यके लोभमें पड़कर कैकेयीने सारे अनर्थोंको कर डाला, उसीको आप सब मुझे स्वीकार करनेको कहते हैं, बड़े खेदकी बात है। यह 'लक्षणामूलक अविवक्षित वाच्य ध्वनि' है।

नोट—*'एहि तें मोर काह अब नीका।*……' इति। (क) गुरुने यह कहकर कि *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥'* (१७१) *'अस बिचारि केहि देइअ दोसू।'* कैकेयीको निर्दोष ठहराया था,

उसका यहाँ उत्तर देते हैं। (ख) भाव कि कैकेयीने सबोंको पदार्थ बाँटे हैं, मुझें सुख-सुयश-सुराज्य दिया और सबका कार्य उसने ही कर डाला। किसीका भी कुछ काम बाकी नहीं रहा। (रा० प्र०) (ग) *'सब कर काजू'* में अवधके बाहरवाले भी आ गये। जैसे, जनकमहाराजको सुनकर ह्रास हुआ, देवताओंका कार्य हुआ, वनवासियोंका भला, सुग्रीव विभीषणादिका काम, रावणको सद्‌गति। काजका अर्थ है भलाई, पर यहाँ व्यंगसे बुराईका अर्थ होगा। (घ) *'काह अब नीका तेहि पर'''* अर्थात् इससे बढ़कर मेरी भलाई क्या हो सकती है सो उसने कर ही दी, अब कुछ रह ही नहीं गया तो भी आप''''।

कैकइ जठर जनमि जग माहीं। एह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं॥७॥
मोरि बात सब बिधिहिं बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई॥८॥
दो०—ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि* पिआइअ बारुनी कहहु काह† उपचार॥१८०॥

शब्दार्थ—'जठर'=पेट, कोख, कुक्षि। **पाँच**=पंच, यथा—*'जो पाँचहिं मत लागै नीका।'* (२। ५। ३) **'ग्रहीत'**=गृहीत, ग्रसा हुआ, जकड़ा हुआ, पीड़ित, क्रूर ग्रहोंके फेरमें पड़ा हुआ। **बात**=सन्निपात, वात रोग। (१। ११५। ७) देखिये। **उपचार**=चिकित्सा, दवा, इलाज, तीमारदारी।

अर्थ—कैकेयीके गर्भसे संसारमें जन्म लेकर यह मेरे लिये कुछ अनुचित नहीं है॥७॥ मेरी बात तो सबकी सब विधाताने ही बना दी फिर (आप सब) प्रजा और पंच क्यों मेरी सहायता कर रहे हैं?॥८॥ जो (क्रूर) ग्रहोंसे ग्रसा हो, फिर वात रोगके वश हो, फिर उसे बिच्छूने भी डंक मारा हो,‡ उसे यदि मदिरा पिलाइये तो भला बताइये कि यह कौन इलाज है? (वा, फिर उसका क्या इलाज हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं, वह तो मर ही जायगा)॥१८०॥

नोट—१ *'एह मोहि कहँ'''* इति। (क) *'एह'* अर्थात् कैकेयी ही सब कुछ मेरे लिये कर चुकी तो भी आप तुरत टीका देकर मुझे राजा देखना चाहते हैं, अधर्मी बनाना चाहते हैं जो मरणके तुल्य है। यह कुछ अनुचित नहीं, कैकेयीके पुत्रके योग्य ही है। (ख) *'कत करहु सहाई'*—भाव कि आपकी सहायताकी तो जरूरत ही नहीं थी। व्यंग है कि आप मरतेको क्यों मारते हैं, गिरतेको धक्का क्यों देते हैं। (रा० प्र०) (ग) यहाँ बहुत अच्छा तुल्य-प्रधान-गुणीभूत व्यंग है। (घ) इसमें गुरुपर भी व्यंगसे कटाक्ष है कि आपके पिता ब्रह्माने पहले ही यह साज सज दिया, अब आप उसपर मेरे माथेपर नीला कलंकका टीका लगाना चाहते हैं कि भरतने ऐसे अनर्थका राज्य लिया। (पु० रा० कु०)

'ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस''''

यहाँ ग्रह, बात, बिच्छूका डंक मारना और मदिरा क्या है? इसमें मतभेद है।

देवता, सरस्वती और कुबरी ग्रह हैं, यथा—*'अवध साढ़साती तब बोली'* (कुबरी), ब्रह्मा और देवताओंने सरस्वतीको भेजा था जो *'हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई॥'* (१२। ८) अतएव ये सब ग्रहदशा हैं। राजाकी मृत्युसे *'भे सब लोग सोक बस बौरा।'* सब बावले-से हो गये—यही वातवश होना है। रामवनवास बीछीका डंक मारना है, यथा—*'नगर ब्याप गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तनु बीछी॥'* और राज्य-तिलक करना वारुणी है। राज्यसे मद होता है, अतएव उसे मदिरा समझें, यथा—*'केहि न राजमद दीन्ह कलंकू', 'सबतें कठिन राजमद भाई॥ जो अँचवत नृप मातहिं तेई।'* (२३१-७) उससे कलंक लगता है और कलङ्क लगना प्रतिष्ठितके लिये मरणसे भी अधिक दारुण है, यथा—*'संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सब दारुन दाहू।'* (९५-७) (पु० रा० कु०, रा० प्र०) किसीने यह भी लिखा है कि राजाकी मृत्युसे एक वर्षके लिये प्रेत चढ़ा यही बाई है।

---

* ताहि।

† कौन—(भा० दा०)।

‡ दूसरा समुच्चय।

नोट—२-प्राय: बात, बीछी और मदिरा इन तीनोंके विषयमें सब एकमत हैं। मुख्य भेद *'ग्रहग्रहीत'* में है। बैजनाथजी कैकेयीको भी शामिल करते हैं। (वे लिखते हैं कि देवता, सरस्वती, कुबरी और कैकेयी क्रमश: जन्मके सूर्य, चन्द्रमा,साढ़साती शनिश्चर और मङ्गल ग्रह हैं। रामवनवास ज्वरमें श्रीसीतालक्ष्मणका संग कुपथ्य पाकर वात हो गया, नृपमृत्यु बीछीका मारना है।) क्योंकि इसके द्वारा सब काम देवताओंने कराया। पाँड़ेजी और पंजाबीजी केवल कैकेयीको *'ग्रह'* मानते हैं। कैकेयीके उदरमें नौ मास बास नवग्रहोंसे ग्रसित होना है।

बाबा हरीदासजी—यह अभूत उपमा कहकर जनाया कि हमारे समान कोई भी दु:खी नहीं! तीन व्यथाएँ तो देहमें प्राप्त ही हैं, मदिरासे मन भी हाथसे गया अर्थात् वनवास, नृपमृत्यु, कैकेयीद्वारा मेरा ही सब अनर्थका कारण होना ये सब दु:ख मुझपर हैं। इनके निवारणार्थ राजमद पीनेको कहते हो जिससे राम-विमुख भी हो जाऊँ। राम-विमुख होना मरण-तुल्य है। यथा—*'बिष्नु बिमुख""जीवत सव सम चौदह प्रानी॥'* (६। ३०। ३-४)

श्रीनंगे परमहंसजी—(क) यह सब श्रीभरतजी अपनेपर ही आरोपण करके बता रहे हैं, अर्थात् मैं ऐसी दशाको प्राप्त हूँ। दु:खपूर्ण माताओंका दु:ख मुझको ग्रहोंकी भाँति ग्रसे हुए है। श्रीरामलक्ष्मणसीताजीका वनगमनजन्य दु:ख मुझे कफ,वात, पित्तके प्रकोपकी तरह सन्निपात हो गया है। उसपर पिताका मरण बीछीका मारना है। इन दु:खोंसे तो मेरी व्यग्रताका ठिकाना नहीं, उसपर पुन: मदिरारूप राज्याभिषेक मुझे दिया जा रहा है। अब मेरे बचनेका कौन उपाय हो सकता है? (ख) *'ग्रह ग्रहीत'* में देवमायाका अर्थ लागू नहीं है, क्योंकि उस देवमायाका प्रभाव भरतपर नहीं है, उसका प्रभाव मन्थरा या कैकेयीतक है। यहाँ भरतजी अपनेपर ही दु:खोंका सम्बन्ध बता रहे हैं जो बिच्छूको वनगमनकी तारतम्यतामें रखते हैं। वह भरतजीके लिये इस कारण अनुपयुक्त है कि *'भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।'* (१६०) सन्निपातका दरजा बिच्छूसे कहीं अधिक भयंकर और दु:खद है। उससे मरण होनेकी सम्भावना है, बिच्छूसे मरण नहीं होता, उसका विष तीसरे दिन उतर जाता है। अत: भरतजीका श्रीराममें गाढ़ प्रेम होनेसे वनगमनजन्य दु:ख ही वातकृत सन्निपात है जिससे मरणकी सम्भावना है। यथा—*'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥'* (२८४। ४) *'जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सब बिनु रघुराई॥'* (१७८। ६) राजाके मरणका दु:ख बिच्छूकी उपमामें ठीक सङ्गत है।

(श्रीनंगे परमहंसजीने माताओंके दु:खको ग्रह कहा है। माताओंके दु:ख-का-दु:ख भरतजीको है, यह उनके *'देखि न जाहिं बिकल महतारी।'* (२६२। २) इस वचनसे स्पष्ट है। अनेक माताओंके दु:ख अनेक ग्रह हैं)।

पं॰ विजयानन्द त्रिपाठीजी—ऊपर कह आये हैं कि (१) *'लखन रामसिय कहुँ बन दीन्हा'* (२) *'पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा। लीन्ह बिधवपन अपजस आपू'* (३) *'दीन्हेउ प्रजहिं सोक संतापू'* (४) *'मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥'* इसी प्रसङ्गके उपसंहारमें यह दोहा कहा गया है। इसमें भी चार बातें हैं—(१) *ग्रह ग्रहीत* (२) *बात बस* (३) *तेहि पुनि बीछी मार।* (४) *तेहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार॥* इससे स्पष्ट है कि पहिली कही हुई चार बातोंके दोषोंको दिखलाते हुए पिछली चार बातें उदाहरणके रूपमें कही गयी हैं।

(१) लखन-राम-सियका वन जाना ही ग्रह-ग्रहीत होना है, यथा *'हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥'* (२) पतिको अमरपुर भेजना और विधवपन लेना एक ही बात है, इसका प्रभाव भरतजीपर सन्निपात-सा पड़ा, भरतजी-ऐसे धीरने माताको दुर्वाद कहा। (३) प्रजाको बीछीसे मारे जाने-सा कष्ट है, यथा—*'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥'* भरतजी इसका ठीक अनुभव करते हैं, अत: भरतजीको वैसी ही पीड़ा हो रही है। (४) राजका मिलना वारुणी-सेवनके समान समझ रहे हैं, यथा—*'सबतें कठिन राजमद भाई।'*

सबका निर्गलितार्थ यह है कि भरतजी कह रहे हैं कि मैं तो इतना दु:खी हूँ; और आपलोग उस

दु:खको मिटानेके लिये मुझे राजरूपी वारुणी दिला रहे हैं, जिसमें उसके नशेमें यह सब दु:ख भूल जाय। यह नहीं समझ रहे हैं कि ऐसे रोगीको वारुणी घातक है, उसके लोक-परलोक दोनोंको नष्ट करेगी।

कैकइ सुअन जोगु जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥ १॥
दसरथ तनय राम लघु भाई। दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई॥ २॥
तुम्ह सब कहहु कढ़ावन टीका। राय* रजायसु सब कहँ नीका॥ ३॥
उतरु देउँ केहि बिधि केहि केही। कहहु सुखेन जथा रुचि जेही॥ ४॥

शब्दार्थ—'**कढ़ावन**'=लगवाना, कराना।

अर्थ—कैकेयीके पुत्र (होनेके) योग्य संसारमें जो कुछ है चतुर विधाताने मुझे वही सब दिया है॥ १॥ परंतु 'दशरथ महाराजका पुत्र' और 'रामका छोटा भाई' यह बड़ाई मुझे विधाताने व्यर्थ ही दी। अर्थात् कैकेयीके पुत्रको 'दशरथ-तनय' और 'रामका छोटा भाई' न बनाना था॥ २॥ आप सबलोग टीका करनेको कहते हैं। राजाकी आज्ञा है और सबको भली लग रही है॥ ३॥ (जब सबको यही अच्छा लगता है तो अकेला) मैं किस प्रकार और किस-किसको उत्तर दूँ। जिसकी जो इच्छा हो वह सुखपूर्वक कहे॥ ४॥

नोट—१ *'कैकइ सुअन जोगु जग जोई।'''*' इति। (क) इसके दो प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं। एक यह कि विधाताने विचारा कि कैकेयीका पुत्र किसे बनावें तो उन्होंने संसारमें सिवाय मेरे और किसीको उसका पुत्र होनेके योग्य न पाया, अतएव चतुर विधाताने मुझे ही उसको (पुत्ररूपसे) दिया। अक्षरार्थ—कैकेयीका पुत्र होने योग्य संसारमें जो था (वा सारे संसारमें देखकर) चतुर विरञ्चिने वही मुझको दिया(उसका पुत्र बनाया)। दूसरा अर्थ यह है कि 'कैकेयीके पुत्रके योग्य संसारमें जो-जो बातें (चाहिये) हैं वही-वही चतुर ब्रह्माने मुझको दिया है।' अर्थात् कुलकलंकी, गुरुस्वामिद्रोही, बन्धुविरोधी, निर्लज्ज इत्यादि होना चाहिये। यह सब बातें मुझमें दी हैं। (ख) *'बिरंचि'* शब्द बहुत उपयुक्त है। अर्थात् वे खूब रचकर बनानेवाले हैं। *'चतुर'* क्योंकि जैसा योग्य पुत्र चाहिये, ठीक वैसा ही रचा, किञ्चित् भूल-चूक नहीं हुई। आगेकी अर्धालीमें यह शब्द नहीं दिया, क्योंकि वहाँ वे चूक गये कि हमें दशरथपुत्र और श्रीरामजीका छोटा भाई बना दिया,यह सम्बन्ध न देना था। (ग) *'दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई',* इसमें व्यङ्गसे यह अर्थ है कि यह बड़ाई मुझे कुलकलंकी न होने देगी, नहीं तो मैं कैकेयीके योग्य था ही। (पु० रा० कु०) ☞इससे यह भाव भी ध्वनित होता है कि धर्मात्मा राजाके पुत्रको धर्मपर आरूढ़ रहना चाहिये। ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता है, यह इस कुलकी रीति है तब भला धर्मात्माका पुत्र दूसरेका राज्य कैसे ले सकता है, अत: मैं न लूँगा। मैं और यह राज्य दोनों श्रीरामके ही हैं। यथा—'**कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः। राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि॥**' (वाल्मी० २। ८२। १२) '**ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः। नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः॥**' (२। ७९। ७) भाव यह कि आपको हमसे राज्य ग्रहण करनेवाली अधर्मकी बात न कहनी चाहिये थी।

नोट—२ *'तुम्ह सब कहहु'''*' इति। यथा—*'राय राजपदु तुम्ह कहँ दीन्हा। पिता बचन फुर चाहिय कीन्हा॥'* (१७४। ३) (गुरुवाक्य), *'कीजिअ गुर आयसु।'* (१७५) (सचिव वचन), *'सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू'* (१७६। ६) (कौसल्यावचन); अतः *'तुम्ह सब'* कहा। पुनः यथा—'*करहु राज रघुराज चरन तजि लै लटि लोगु रहा है।*' (गी० २। ६४)

नोट—३ *'कहहु सुखेन जथा रुचि जेही'* इति। भाव कि मैं किसीकी जिह्वा तो पकड़ नहीं सकता,

* पं० रामकुमारजी 'राय राज सबही कहँ नीका' पाठ देते हैं। और यह अर्थ करते हैं—'राजाकी राजभरमें सबको' वा 'राजाकी राय सबको'। (भा० दा०)

जो जिसको अच्छा लगता है वह कहता है और कहे, इसमें मेरा वश ही क्या है। यथा—'*गहि न जाति रसना काहू की कहौ जाहि जोइ सूझै।*' (गी० २।६२) पुनः भाव कि अब मैं कुछ उत्तर न दूँगा।

मोहि कुमातु समेत बिहाई। कहहु कहिहि के कीन्ह भलाई॥५॥
मो बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियरामु प्रानप्रिय नाहीं॥६॥
परम हानि सबु कहँ बड़ लाहू। अदिनु मोर नहि दूषन काहू॥७॥
संसय सील प्रेम बस अहहू। सबुइ उचित सबु जो कछु कहहू॥८॥
दो०—राम मातु सुठि सरल चित मो पर प्रेम बिसेषि।
कहइ सुभाय सनेह बस मोरि दीनता देखि॥१८१॥

अर्थ—मेरी कुमातासहित मुझे छोड़कर, कहिये तो, कौन कहेगा कि यह काम अच्छा किया गया॥५॥ मेरे सिवा जड़-चेतन-मात्रमें कौन है जिसको श्रीसीतारामजी प्राणप्रिय न हों॥६॥ जो सबसे बड़ी भारी हानि है, वहीं सबको बड़ा लाभ (सूझ रहा) है, मेरे दिनोंका फेर (दुर्दिन, दुर्भाग्य, बुरे दिन) है, किसीका दोष नहीं॥७॥ आप सब लोग संशय, शील और प्रेमके वश हैं, (अतएव) आप सब जो कुछ कहें वह सब उचित ही है॥८॥ श्रीरामजीकी माता अत्यन्त सरलचित्त हैं और मुझपर उनका बड़ा प्रेम है, वे मेरी दीनता देखकर स्वाभाविक प्रेमके वश हो ऐसा कहती हैं॥१८१॥

नोट—१ पूर्व कहा कि जिसकी जो इच्छा हो सो कहे, मैं न बोलूँगा। क्यों, सो अब कहते हैं कि '*मोहि कुमातु*……'। अर्थात् संसारमें कोई ऐसा नहीं, सिवाय मेरे और मेरी माँके जो राज्य लेनेपर कहे कि मैंने भला किया। सब मेरी निन्दा करेंगे, एक तो कैकेयी कहेगी कि अच्छा किया, दूसरे मैं अपनेको अच्छा कहूँगा कि मैंने अच्छा किया कि राज्य ग्रहण किया। और कोई भला क्यों न कहेगा? इसका कारण आगे बताते हैं कि '*मो बिनु को*……'। अर्थात् श्रीसीतारामजी सबको प्राणप्रिय हैं। उन प्राणप्रियका राज्य मैंने ले लिया, उनका मैंने अनभल ताका, तब कोई कैसे भला कह सकता है? दोको वे अप्रिय हैं, इससे वे ही दो भला कहेंगे। '*को सचराचर माहीं*', यथा—'*जगदात्मा प्रान पति रामू।*' (६।३४।६), ऐसा ही कैकेयीसे कहा है, यथा—'*अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं॥*' (१६२।६), पुनः यथा—'*को नर नारि अवध खग मृग जेहि जीवन राम तें प्यारो।*' (गी० २।६७)

नोट—२ '*परम हानि सबु कहँ बड़ लाहू*……' इति। इसके दो तरह अर्थ करते हैं। एक यह कि (क) जिसमें मेरी परम हानि है, उसमें सबको बड़ा लाभ दीखता है। सबको राम प्राणप्रिय और मैं रामविमुख, हमको वे प्रिय नहीं, यह हमारी हानि है, यथा—'*हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्हि मातु कुटिलाई॥*' और इसीमें सब लोग अपना बड़ा लाभ मानते हैं। अर्थात् राम-विरहमें हमारे प्राण नहीं निकलते, इसीसे सब टीका करानेको कहते हैं, मर जाता तो कोई ऐसा क्यों कहता? कठोर हृदय होनेके कारण ऐसा कहते हैं। (पु० रा० कु०) (ख) राज लेनेमें हमारी परम हानि है पर उसीमें सब '*आपन बड़ काज*' मानते हैं, इसलिये सबका बड़ा लाभ है। दूसरा यह कि रामवनगमन और नृपमरण (रूपी अनर्थ जो मेरे कारण हुए हैं) परम हानि है जिससे सब शोक-निमग्न हैं, वही बड़ा लाभ है अर्थात् हमारे राज्यका कारण है। (पं०, रा० प्र०)

नोट—३ '*संसय सील प्रेम बस अहहू।*……' इति। (क) '*संसय*' का कारण वाल्मीकीय सर्ग ६७ में विस्तारपूर्वक कहा गया है। राजाके स्वर्गवास होनेपर सबेरे ही सब मन्त्री और ऋषिगण एकत्र हो सोचने लगे थे कि किसीको तुरत राजा बनाना चाहिये; क्योंकि 'राजहीन देशका राष्ट्र नष्ट हो जाता है, उसमें खेत नहीं बोये जा सकते, पिता-पुत्र-स्त्री आदि सभी स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। धनिक, वणिक्,

ब्रह्मचारी, यज्ञ करनेवाले इत्यादि कोई निश्चिन्त होकर अपने धर्म-कर्म नहीं कर सकते; अराजकताके कारण कोई अपनेको सुरक्षित नहीं समझता। कथा, वार्ता, सभाएँ और उत्सव सब बन्द हो जाते हैं। इत्यादि।' *सील*=मुलाहिजा। राजा इनको राज्य दे गये हैं, इससे कैसे कहें कि न लो, श्रीरामको राजा होने दो। *'सौंपेहु राज राम के आए।'* एवं *'तब तस करब बहोरि'*—ये शीलसूचक वचन हैं और प्रेम यह कि हमारा भला हो। (ख) भाव यह कि संशय, शील और प्रेम ये तीनों ऐसे हैं कि इनमें विचार नहीं रह जाता। यथा—*'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'* (१। ५१) *'कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाषा। भरत सनेहु बिचार न राखा॥ तेहि ते कहेउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति भोरी॥'* (२५८। ६-७) और आप सब इनके वश हैं तब आपके विचार कहाँ? जो चाहे कहिये। (पु० रा० कु०) तात्पर्य कि आप अपने वशमें नहीं हैं, पराये वशमें हैं। इससे आपका कहना अनुचित है—यह व्यंग्यसे जनाया। अथवा, गुरु शीलवश हैं, मन्त्री संशय एवं शीलवश हैं, ☞गुरुजीने तो स्पष्ट कह दिया कि *'मरम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥ सौंपेहु राजु राम के आए। सेवा करेहु सनेह सुभाए॥'* (१७५। ७-८) क्योंकि वे उनका भाव, उनका रामप्रेम, उनकी धर्मपरायणता जानते हैं, तथा सर्वज्ञ हैं, जानते हैं कि आगे क्या होना है। पर मन्त्रियोंने लगी-लपटी कही, उन्हें संदेह है, यह उनके *'रघुपति आए उचित जस तब तस करब।'* (१७५) इस वचनसे स्पष्ट है। और माताकी वाणी शील और स्नेह दोनोंसे युक्त है, यथा—*'सुनी बहोरि मातु मृदु बानी। सील सनेह सरल रस सानी॥'* (१७६। ८)

टिप्पणी—१ भरतजीका भाषण भी कैसा विलक्षण है? कहते भी जाते हैं और आश्वासन भी करते जाते हैं।

टिप्पणी—२ *'रामु मातु सुठि सरल चित·····'* इति। वे श्रीरामकी माता हैं और श्रीरामजीका स्वभाव अत्यन्त सरल है, यथा—*'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।'* (१। २३७। २) *'सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ।'* (१८३। ५) अतः उनकी माता भी अत्यन्त सरल हुआ ही चाहें। दीनता यह कि पिता मरे और भाई श्रीराम-लक्ष्मण वनको गये। (भरतजीने स्वयं अपनी दीनता आगे कही है, यथा—*'आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ। देखे बिनु रघुनाथपद जिय कै जरनि न जाइ॥'* (१८२) पहले भूषण अर्थ किये अब दूषण अर्थ करते हैं—*'सुठि सरल चित'* नहीं चाहिये—**'अति सर्वत्र वर्जयेत्'**। मुझपर विशेष प्रेम है, सो ऐसा भी लट्टू न होना चाहिये कि जिसमें मेरा अहित हो। ऐसा स्नेह दूषित है।

प० प० प्र०—*'सुठि सरल चित'* का भाव कि गुरु, सचिव और महाजन सब सरल चित्तवाले हैं, पर श्रीराममाताजी 'अत्यन्त सरल चित' हैं। *'सुठि सरल चित·····'* कहकर यह भी जनाया कि केवल माता *'संसय बस'* नहीं हैं। वे केवल अत्यन्त प्रेमके कारण ऐसा कहती हैं। प्रेममें विवेक-नेत्र अंधे हो जाते हैं। यथा—*'तुलसी बैर सनेह दोउ रहित बिलोचन चारि।'* (दो० ३२६) *'बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू।'* सुठि सरल चित होनेको दोष माननेसे श्रीरामजी भी दोषी ठहरेंगे, क्योंकि आगे भरतजी उनको भी ऐसा ही कहते हैं, यथा—*'सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥'* (१८३। ५)

गुर बिबेक सागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना॥ १॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ। भयें बिधि बिमुख बिमुख सबु कोऊ॥ २॥
परिहरि रामु सीय जग माहीं। कोउ न कहहि* मोर मत नाहीं॥ ३॥
सो मैं सुनब सहब सुख मानी। अंतहु कीच तहाँ जहँ पानी॥ ४॥

शब्दार्थ—**सज**=सजाते, तैयार कराते, सँवारते, रचते हैं।

* राजापुर, रा० प्र० में 'कहहि' ही है। कहिहि—१७२१, १७६२, छ०। 'कहहि' पाठका भाव पं० वि० त्रि० के टिप्पणीसे स्पष्ट हो जायगा।

अर्थ—गुरुजी ज्ञानके समुद्र हैं, यह सारा संसार जानता है कि जिनके लिये संसार हथेलीपर रखे हुए बेरके समान है (अर्थात् उनको संसारकी भूत, भविष्य, वर्तमानकी बातें निरावरण देख पड़ती हैं)॥ १॥ वे भी मेरे लिये तिलकका साज सज रहे हैं, (उचित समझते हैं) विधाताके रूठनेसे (विपरीत होनेसे) सभी कोई रूठ (प्रतिकूल हो) जाते हैं॥ २॥ श्रीसीतारामजीको छोड़कर जगत्‌में कोई नहीं कहेगा कि मेरा संमत (वनवासमें) नहीं था॥ ३॥ सो मैं उसे सुखपूर्वक सुनूँगा और सहूँगा, क्योंकि जहाँ पानी होता है वहाँ अन्तमें कीचड़ होता ही है॥ ४॥

नोट—१ *'गुर बिबेक सागर जगु जाना।'''''* इति। (क) भाव कि कुछ मैं ही नहीं ऐसा कहता, संसारभर इसे जानता है। उन्हें विश्व हथेलीपर रखे हुए बेरके समान है अर्थात् वे त्रिकालज्ञ हैं। वाल्मीकीयमें गुरुकी निन्दा की है, यथा—'**विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्।**' (२।८२।१०) अर्थात् श्रीभरतजी सभाके बीचमें विलाप और वसिष्ठजीकी निन्दा करने लगे,उसको यहाँ बहुत सुधारकर लिखते हैं। साथ-ही-साथ इन शब्दोंके भीतर निन्दा (व्यंगसे) भरी है, बाहरसे प्रशंसा है। (पु० रा० कु०) (ख)—जिन्हें त्रिकालकी बातें इस तरह प्रत्यक्ष देख पड़ती हैं जैसे हथेलीपर रखा हुआ बेर, इसमें भाव यह है कि गुरुजी जानते हैं कि मैं माताकी कुचालको जानता भी न था और न मेरा उसमें सम्मत है, तथापि वे भी भविष्यत् देखते-जानते हुए भी मेरे सच्चे, परमार्थके सहायक न होकर, मेरे लिये कलंकका घररूप तिलक सजाते हैं। यह मेरा अभाग्य है। उनका इसमें दोष क्या? जब खोटे दिन आते हैं तो माता-पिता-गुरु-बन्धु-मित्र सब ही उलटे हो जाते ही हैं,यथा—*'भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम॥'* (१७५) अतः उनका प्रतिकूल हो जाना आश्चर्य क्या? विधि प्रतिकूल हैं, ये उनके पुत्र हैं, अतः प्रतिकूल हुआ ही चाहें। यह सब व्यंग हैं।

प० प० प्र०—*'जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना।' 'मो कहँ तिलक साज सज सोऊ'* से स्पष्ट है कि भरतजी निष्कलंक हैं यह सबको विदित हो जाय इसी विचारसे गुरुने ऐसा उपदेश किया जिसको सब मन्त्री *'गुरु आयसु'* समझें।

☞ *'कर बदर'* यहाँ साभिप्राय है। माता कौसल्याने कहा था कि *'पूत पथ्य गुर आयसु अहई।'* गुरुकी आज्ञा इस कुरोगमें पथ्य है। उसीका यह मानो उत्तर है कि हमारे लिये सारा संसार बेरके सदृश है। बेर रोगीके लिये कुपथ्य है। इसी प्रकार राज्य ग्रहण करना हमारे लिये कुपथ्य है। पूर्व *'करतलगत आमलक समाना'* का दृष्टान्त दिया गया था वह यहाँ नहीं दिया गया क्योंकि वह कुपथ्य नहीं है। विशेष *'तुम्ह त्रिकालदरसी मुनिनाथा। बिस्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा॥'* (१२५। ७) और *'जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतलगत आमलक समाना॥'* (१। ३०। ७) में देखिये। विश्व बेरके समान दोषोंसे भरा हुआ है अतः विश्वके ज्ञानके लिये उसकी उपमा दोनों जगह दी गयी। आमलेकी उपमा आत्मज्ञानकी है। पुनः ज्ञानीकी दृष्टिमें विश्व कुपथ्य है। और भक्तकी दृष्टिमें वह पथ्य है, अतः वाल्मीकि और वसिष्ठ ज्ञानियोंको विश्व बेरके समान कहा और श्रीरामचरितके श्रोता-वक्ता भक्तोंके लिये *'आमलक'* समान कहा। श्रीरामचरित-सम्बन्धी बातोंका ज्ञान प्राप्त करनेमें वाल्मीकिजीके सम्बन्धमें भी आमलकका ही दृष्टान्त (वाल्मी० १। ३।६) में दिया गया है। यथा—'**ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः। पुरो यत्तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा॥**' अर्थात् धर्मात्मा वाल्मीकिजीने इन बातोंके अतिरिक्त चरितसम्बन्धी अन्य बातें जो पहले हो चुकी थीं योगबलके द्वारा इस प्रकार जान लीं, जैसे हाथमें रखे हुए आँवलेका ज्ञान मनुष्यको होता है।

वीरकवि—यहाँ भरतजी कहते तो गुरुहीसे हैं परन्तु विमुख होनेकी बात दूसरोंके प्रति कहकर गुरुजीको सूचित करना 'गूढ़ोक्ति' अलंकार है। भाव यह है कि गुरुका ऐसा कहना आश्चर्यजनक है कि ईश्वरके विपरीत, शिष्यको संसारकी ओर लगनेको कहें—'तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यङ्ग' है।

नोट—२ *'परिहरि रामु सीय जग माहीं''''अंतहु कीच'''''* इति। श्रीसीतारामजीको अन्तर्यामी जनाया। यही कहेंगे कि हमारा मत माताकी करनीमें नहीं है बाकी सभी कहते हैं और कहेंगे कि मेरा सम्मत

उसमें था, यथा—*'एक भरत कर संमत कहहीं'।* यह लोकापवाद सहनेके लिये ही मैं पैदा हुआ हूँ, अतएव सहना ही पड़ेगा। मुझे बुरा माननेकी जगह है ही नहीं क्योंकि यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि जहाँ पानी रहता है वहाँ अन्तमें कीचड़ होती ही है। जहाँ कुछ दोष होगा, वहाँ पीछे बदनामी अवश्य होती है। सब उत्पात मेरे लिये हुआ। शोकसमाज-राजके ग्रहण करनेको मुझसे कहा जाता है, मेरा मत लोग समझते ही हैं, इत्यादि, अपयशके पात्र हम कैसे न बनें?

वि० त्रि०—*'परिहरि रामु सीय'''''नाहीं'* इति। भरतजी कहते हैं कि जो लोग मुझे राज्य लेनेको कहते हैं, वे दूसरे शब्दोंमें यह कह रहे हैं कि यह सब मेरी सम्मतिसे हुआ। उन्हें संशय है कि मेरी सम्मति अवश्य रही होगी, यथा—*'संसय सील प्रेम बस अहहू। सबुइ उचित सबु जो कछु कहहू॥'* 'रामजीकी माता सरल चित्त हैं उन्हें संशय नहीं है। वे मेरी दीनता देखकर स्नेहवश कह रही हैं। गुरुजी सर्वज्ञ हैं। उन्हें भी संशय नहीं है पर वे ब्रह्मदेवके विमुख होनेसे तिलकका साज सज रहे हैं। अब मुझे दूसरी शरण नहीं है। इस अनर्थ-व्यापारमें मेरी सम्मति नहीं थी। इस बातको सिवा श्रीराम-जानकीजीके और कोई कहनेवाला नहीं है। अतः मैं उन्हींके पास जाऊँगा। वहींसे मेरी सफाई होगी और कहींसे नहीं।

मिलान कीजिये—*'को भरि है हरिके रितये रितवै पुनि को हरि जो भरि है। उथपै तिहि को जिहि राम थपैं थपि है पुनि को हरि जौ टरि है॥ तुलसी यह जानि हिये अपने सपने नहिं कालहुँ तें डरिहै। कुमया कछु हानि न औरन की जुपै जानकीनाथ मया करिहै॥'* (क० ७। ४७), *'दीनबंधु कारुन्यसिंधु बिनु कौन हिये की बूझै।'* (गी० २। ३)

प० प० प्र०—*'अंतहु कीच तहाँ''''' '* इति। भाव कि मेरी माता *'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी'* और रामद्रोही है, बेटा होनेसे मैं भी वैसा कहा ही जाऊँगा, यदि राज्यको स्वीकार करूँ और स्वीकार न करूँ तो भी कुटिल और अभागी तो लोग कहेंगे ही।

☞अन्तरंग-बहिरंग, भीतर-बाहर, दोनों ही साफ होने चाहिये, इस लोक-शिक्षाके लिये भरतावतार है। जीव कैसे ही स्वच्छ आचरणवाला हो उसे अपनेको सदोष मानना ही चाहिये।

प्रो० पं० रामचन्द्र शुक्ल—एक बार तो संसारकी ओर देखकर भरतजी अयश छूटनेसे निराश होते हैं, पर फिर उन्हें आशा बँधती है। वे समझते हैं कि रामके आते ही मेरा अयश दूर हो जायगा। उनको विश्वास है कि सारा संसार मुझे दोषी माने पर सुशीलताकी मूर्ति राम मुझे दोषी नहीं मान सकते।—*'परिहरि रामु सीय जग माहीं''''''।* रामकी सुशीलतापर भरतको इतना अविचल विश्वास है। वह सुशीलता धन्य है जिसपर इतना विश्वास टिक सके और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलतापर इस अविचल भावसे जमा रहे। भरतकी आशाका एकमात्र आधार यही विश्वास है।

डरु न मोहि जग कहहि* कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू॥५॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय राम दुखारी॥६॥
जीवन लाहु लषन भल पावा। सबु तजि रामचरन मनु लावा॥७॥
मोर जनम रघुबर बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी॥८॥

दो०—आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखे बिनु रघुनाथ पद जिअ कै जरनि न जाइ॥१८२॥

शब्दार्थ—पोचू=बुरा, नीच, यथा—*'कहिहैं जग पोच न सोच कछू फल लोचन आपनो तो लहिहैं।'* (१-२-२३)

अर्थ—मुझे इसका डर नहीं कि संसार मुझे बुरा कहता है और न परलोकका ही शोच है॥५॥

* पाठान्तर 'कहिहि' (भा० दा०)।

हृदयमें एक यह ही असह्य दावाग्नि बस दहक रही है कि मेरे कारण श्रीसीतारामजी दुःखी हुए॥ ६॥ जीवनका लाभ लक्ष्मणजीने भली प्रकार पाया कि सब कुछ त्यागकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें ही मन लगाया॥ ७॥ और मेरा जन्म (तो) रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीको वन भेजनेके लिये हुआ (फिर) मैं अभागा झूठ ही क्या पछताता हूँ॥ ८॥ सबको माथा नवाकर मैं अपनी कठिन दीनता कहता हूँ कि बिना रघुनाथजीके चरणोंके देखे मेरे जीकी जलन न जायेगी॥ १८२॥

रा० प्र०—*'जग कहहि कि पोचू'''।'* जग कहेगा कि आज सारे पृथ्वीका राज्य पाते थे, लेते न बना, बड़े ही मन्दबुद्धि हैं। परलोक बिगड़ेगा; क्योंकि पिता-माताकी आज्ञा नहीं मानी। मेरा हृदय तो इस बड़े भारी शोकसे संतप्त हो रहा है कि हमारे स्वामी हमारे कारण दुःख उठा रहे हैं। मैं उनको वनवास करानेके लिये ही पैदा हुआ!

☞ जहाँ लौकिक-पारलौकिक धर्म भगवत्-भागवतधर्मके प्रतिकूल पड़ते हों, वहाँ भगवद्धर्मपर आरूढ़ मनुष्यको लोक-परलोक दोनोंका त्याग कर्तव्य है, यह परमभागवत भरतजीका उपदेश है। यथा—**'लौकिका वैदिका धर्मा उक्ता ये गृहवासिनाम्। त्यागस्तेषां तु पातित्यं सिद्धौ कामविरोधिता॥'** इति शिवसंहितायाम्।

नोट—*'बस'* बड़ा चोखा (उत्कृष्ट) शब्द यहाँ पड़ा है। दावानल समुद्रमें रहकर उसे जलाया करता है, वैसे ही हमारे हृदयसिन्धुमें यह दावाग्नि बसी हुई उसे निरन्तर जलाती रहती है। पानीरूपी राज्य वा माताने जो सुख मेरे लिये संचय किया, वह उसे बुझा नहीं सकता, किन्तु उसे भी यह जलाता है।

टिप्पणी—१ *'जीवन लाहु लषन।'''''* इति। (क) *'लषन'* हैं, उन्होंने लख लिया कि जीवनका लाभ यही है और कुछ नहीं—*'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।''''' जहँ लगि जगत सनेह सगाई''' मोरे सबुइ एक तुम्ह स्वामी।'* मुझसे कुछ बन न पड़ा, मैं अभागी हूँ, झूठे ही पछता रहा हूँ। (अपने भाग्यकी हीनता दर्शित करनेको लक्ष्मणके भाग्यकी सराहना ठौर-ठौरपर की है। यथा—*'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥ कपटी कुटिल मोहिं प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥'* (७। १) *'भे न भाइ अस अहहिं न होने।'* (२००। १) *'मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी।'* (२०१। ५) इत्यादि। (ख) [इसमें ध्वनित अर्थ यह है कि मैंने जीवनका लाभ खो दिया। उन्होंने तो सब छोड़ श्रीरामपदारविन्दमें मन लगाया और मैं श्रीरामचरणोंको त्यागकर *'लोलुप, भूमि भोगका भूखा'* हो रहा हूँ और आप सब मेरी सहायता कर रहे हैं। (प० प० प्र०) (ग) श्रीरामजीके चरणोंमें परम अनुराग होना जन्मका परम लाभ है। यथा—*'पावन प्रेम राम चरन जनम लाहु परम।'* (वि० १३१)।]

टिप्पणी—२ *'आपनि दारुन दीनता कहउँ''''''* इति। पूर्व कहा था कि *'मोहि अनुहरत सिखावन देहू।'* (१७८। २) अब कहते हैं कि मैं स्वयं कहता हूँ कि मेरे रोगकी क्या औषधि है। मैं अपनी दारुण दीनता भी कहता हूँ अर्थात् यह ऐसी है कि कोई इसे देख भी नहीं सकता, बड़ी असहनीय है। माथा नवाकर, अर्थात् विनम्र निवेदन करता हूँ, आप इसे स्वीकार करें, मेरी अवज्ञाको क्षमा करें। (*'देखे बिनु''''न जाइ'* का भाव कि उनके दर्शन होनेपर मैं उनको लौटाकर लाऊँगा, स्वयं वनवासी बनूँगा, मेरा कलंक दूर होगा। धर्मानुकूल श्रीरामजी राजा होंगे, तब मेरे हृदयकी जलन जायगी। यथा—*'ऐहैं राम सुखी सब ह्वै हैं ईस अजस मेरो हरि हैं।'* गी० २। ६०)

पाँड़ेजी—षट्शरणागतिमें मुख्य विश्वास है। वही यहाँ कहते हैं।

मयङ्क—भरतजी कैकेयीके वचनोंसे कैसे दुःखी हुए—*'मरम पाँछि जनु माहुर देई' 'मनहुँ जरे पर लोन लगावति।'* ऐसे अत्यन्त दुःखपर लोग राज्य देते हैं; इससे दुःख और दूना हो गया। आठों मर्मस्थलोंकी पीड़ा, फिर ग्रह-ग्रहीत, वातवश, तेहि पुनि बीछी मार—इस प्रकार ग्यारह तापोंसे वे संतप्त हैं, मानो त्रितापसे व्याकुल हैं; इसीसे राज्य अच्छा नहीं लगता। इस 'ताप' को मिटानेके लिये रामस्नेहसिन्धुमें शीतल होनेके लिये जा छिपे।

आन उपाउ मोहि नहिं सूझा। को जिअ कै रघुबर बिनु बूझा॥ १॥
एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहों प्रभु पाहीं॥ २॥

जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥ ३॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी॥ ४॥

अर्थ—मुझे दूसरा कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता, बिना रघुवरके हृदयकी कौन जान सकता है?॥ १॥ एक यही निश्चय मनमें है कि प्रातःकाल प्रभुके पास मैं चल दूँगा॥ २॥ यद्यपि मैं बुरा और अपराधी हूँ, तथा मेरे ही कारण यह सब उपद्रव हुआ है तो भी मुझे शरणागत और सन्मुख देखकर सब अपराध क्षमा करके प्रभु मुझपर विशेष कृपा करेंगे॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ *'आन उपाय मोहि नहिं सूझा।'.....'* इति। भाव कि और भी बहुत उपाय होंगे; पर मुझे तो और कोई नहीं सूझते, यही एक उपाय निश्चय जान पड़ता है। यहाँ *'रघुबर'* के दोनों अर्थ हैं, एक तो रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजी दूसरे अन्तर्यामी। भूषणकारने *'रघुबर'* शब्दका यह अर्थ दिया है, वही वहाँ प्रसंगके अनुकूल है। *'रघुबर सब उर अंतरजामी'* हैं। (१। ११९। २) अतः वे जानते हैं, दूसरा नहीं जान सकता। जब वसिष्ठ आदि न जान सके तो कहना उचित ही है कि सिवा रघुवरके और कौन जान सके ? दूसरा कोई रोगका निदान ही नहीं पाता तो उपचार क्या बतावेगा ? अतएव प्रभुके पास चलूँगा। *'प्रभु'* अर्थात् समर्थ हैं। वे इस रोगको छुड़ा देंगे। *'अनभल'* का भाव कि मुझसे कुछ भलाई न होकर उल्टे बुराई ही हुई। (नोट—श्रीभरतजीने प्रथम तो आज्ञा माँगी थी कि मुझे श्रीरामजीके पास जानेकी आज्ञा दीजिये, यथा—*'जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहिं आँक मोर हित एहू॥'* (१७८। ७) यह केवल अपने लिये कहा था। और यहाँ (१८३। २) में अपना निश्चय कहा कि *'प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं।'* यहाँ *'चलिहउँ'* शब्द देकर जनाया कि मैं तो जाऊँगा ही, आपलोग भी चलना चाहें तो चल सकते हैं। प्रातःकाल ही चल देनेकी सूचना सबको दे दी। इसीसे *'जैहउँ'* न कहकर *'चलिहउँ'* कहा। इसमें अ० रा० के '**तच्छ्वोभूते गमिष्यामि पादचारेण दण्डकान्।**' (२। ८। ८) **शत्रुघ्नसहितस्तूर्णं यूयमायात वा न वा। रामो यथा वने यातस्तथाहं वल्कलाम्बरः॥**' (९).....' इन श्लोकोंका भाव भी जना दिया है कि प्रातःकाल ही मैं शत्रुघ्नसहित वल्कलधारी होकर पैदल ही दण्डकारण्यको जाऊँगा, आपलोग चलें या न चलें)।

टिप्पणी-२ *'छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी'* इति। भाव यह कि कृपा तो सदैव करते आये हैं, अब शरण जानेपर विशेष कृपा करेंगे, यथा—*'निज पन तजि राखेउ पन मोरा।'* चरणपादुकाएँ दीं यह विशेष कृपा है। मिलान कीजिये—*'सरन गये मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥'* (७। १२४। ७) *'सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा॥'* (५। ३८) *'नाथ दीनदयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गये न खाई॥'* (६। ७। १)

नोट—यहाँ मुहूर्त विचार नहीं किया गया। भगवत्सम्मुख होनेके लिये मुहूर्त्तके विचारकी जरूरत नहीं, सब दिन शुभ हैं। यथा—'**तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापतेर्नाम यदा स्मरामि॥**' (सुश्रुतसंहिता), *'रामकी शरण जाय सुदिन न हेरिये', 'बिगरी जन्म अनेककी सुधरै अबहीं आजु। होहि राम को राम भजु तुलसी तजि कुसमाजु', 'बेगि बिलंबु न कीजिय लीजिय उपदेस'*—(विनय०)।

सीलु सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥ ५॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥ ६॥
तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयेसु आसिष देहु सुबानी॥ ७॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी॥ ८॥
दो०—जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठु सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहि मोहि रघुबीर भरोस॥ १८३॥

शब्दार्थ—'पै'=परंतु,=निश्चय। 'बहुरि'=लौटकर। 'बहुरना'=फिरकर आना, लौटना।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी अत्यन्त शीलवान्, सङ्कोची और सरल स्वभावके हैं और कृपा तथा प्रेमके घर हैं॥५॥ श्रीरामजीने तो शत्रुका भी बुरा नहीं किया। यद्यपि मैं टेढ़ा हूँ तो भी मैं उनका तो शिशु और सेवक ही हूँ। अर्थात् फिर मेरा अपराध क्यों मनमें धरने लगे॥६॥ पर आप सब पंच निश्चय मेरा भला मानकर सुन्दर वाणीसे आज्ञा और आशीर्वाद दें॥७॥ जिससे मेरी विनती सुनकर मुझे अपना दास जानकर श्रीरामचन्द्रजी राजधानीको लौट आवें॥८॥ यद्यपि मेरा जन्म कुमातासे है, मैं दुष्ट और सदा दोषी हूँ तो भी अपना जानकर वे मुझे न त्यागेंगे, मुझे रघुवीर श्रीरामजीका भरोसा (पूरा विश्वास) है॥१८३॥

टिप्पणी—१ *'सीलु सकुच सुठि सरल सुभाऊ।'''* इति। आगे चित्रकूटमें सबके उदाहरण हैं। (१) शील ऐसा कि—*'साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरेउ॥'* दोहावली॥ ४७॥ बहुत-से दोष देख भी लें तो भी उनपर कभी ध्यान नहीं दें। कैकेयीकी करनीपर कैसा शीलका व्यवहार है, बस हद है—बार-बार उससे मिलते हैं। सबसे पहले इसी मातासे चित्रकूटमें और लंकासे लौटनेपर मिले हैं—(२४४। ६-७) और (७। १०) देखिये। यही नहीं जो कोई उनको दोष देता था उसपर बिगड़ जाते थे—*'दोष देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥'* (२६२। ८) विशेष *'तुलसी कहूँ न रामसे साहिब सील निधान'* (१। २९) में देखिये। *'संकोची'*, यथा—*'सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची'* (३१३। ३-४) देखिये। कैसा गजबका संकोच है। यह न कह सके कि अब लौट जाइये। (२) *'सुठि सरल'* ऐसे कि विश्वामित्रसे पुष्पवाटिकामें श्रीसीताजीका मिलनप्रसंग और मनका क्षोभ सब कह दिया। यथा—*'राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥'* (१। २३७। २) कैकेयीके प्रसंगभरमें सरलता भी देख लीजिये। (३) कृपा और स्नेहके तो घर ही हैं। यथा—*'को साहिब सेवकहि निवाजी। आपु समान साज सब साजी॥'* (२९९। ५) से *'को कृपालु बिनु पालि है बिरिदावलि बरजोर।'* (२९९) तक। स्नेहसदन ऐसे कि गीधको पितासे और भीलनीको मातासे अधिक माना। इन सब विशेषणोंमें भाव यह है कि वे इन गुणोंके कारण मुझे शरणमें रखेंगे, मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे। यथा—*'सनमुख गये सरन राखहिंगे रघुपति परम सँकोची।'*(गी० २। ६५)

टिप्पणी २—*'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।'* इति। (क) भाव कि अनहित करनेवालेके साथ कोई भलाई नहीं करता, उसका समूल नाश करनेका उपाय करते हैं। *'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'* (२२९। २) यह नीति है। पर श्रीरामजी शत्रुके भी अनुकूल रहते हैं, उसका भला ही करते हैं, उसका बुरा तो कभी मनसे भी नहीं सोचते। *'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला।'* (३२। ८) देखिये (ख) *'मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा'* का भाव यह कि शत्रुका भी भला ही वे करते हैं, बुराई उसके साथ भी कदापि नहीं करते और मैं तो बच्चा हूँ, उनका छोटा भाई हूँ, मेरा अनभला कब करने लगे! पुनः, *'सिसुसेवक'* अर्थात् बचपनसे ही उनका सेवक हूँ यद्यपि अब वाम हो गया हूँ ('शिशुसेवक' की रक्षा स्वयं प्रभु करते हैं यथा—*'बालक सुत सम दास अमानी।'*, *'सदा करउँ तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'* (३। ४३) *'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥'* (४। ३। ४) इसीसे श्रीभरतजी अपनेको शिशु और सेवक कह रहे हैं और छोटे तो हैं ही। श्रीलक्ष्मणजीका भी यही भाव है। यथा—*'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।'* (७२। ३) *'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह॥'* (७१))

टिप्पणी ३—*'तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी'''* इति।—यह निश्चय समझकर कि मेरा इसमें हित है इसमें विरोध न मानकर आज्ञा (चलनेकी) और आशीर्वाद सुन्दर वचनोंसे दीजिये जिसमें वे अवश्य लौट आवें। *'पै'* का भाव कि श्रीरामजी तो भला करेंगे ही यह आप निश्चय जानिये पर आप भी आशीर्वादसे सहायक हूजिये।

वि० त्रि०—भारतवर्षके एकतन्त्रराज्यमें पञ्चकी सम्मतिसे ही कार्य होता था। महाराज दशरथ रामजीके लिये कहते हैं *'जौ पाँचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥'* यहाँ रामजीके पास जानेकी अनुमति भरतजी पंचसे माँग रहे हैं कि पंचकी आज्ञा मैं नहीं हटा सकता। अतः आप लोग इस समय

तिलककी बात रहने दीजिये, मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं रामजीको लौटानेके लिये उनके पास जाकर प्रार्थना करूँ और मेरी सफलताके लिये आशीर्वाद दीजिये और ऐसा यह समझकर कीजिये कि इससे भरतका भला होगा, यथा—*'हित हमार सियपति सेवकाई।'*

नोट—१ (क) *'जद्यपि जनमु कुमातु तें ""'* इस दोहेभरमें षट्शरणागतिमेंकी तीसरी शरणागति **'रक्षिष्यतीति विश्वासः'** रक्षामें पूर्ण विश्वास शरणागति है। आशीर्वाद देना यहाँ नहीं पाया जाता। कारण कि गुरु जानते हैं कि श्रीरामजी न लौटेंगे इसीसे आशीर्वाद न दिया। पर श्रीभरतजीकी प्रतिज्ञा भी झूठी नहीं हुई। वे चरणपादुका लेकर आये, उनसे उन्हें वही सुख हुआ जो श्रीरघुनाथजीके साथ लौटनेसे होता, यथा—*'भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सियराम रहे तें॥'* (३१६। ८) इन्हींको उन्होंने सिंहासनपर विराजमान कराया। (वि० त्रि० का टिप्पण दोहा १८४ में भी देखिये) (ख) *'रघुबीर भरोस'*—यहाँ श्रीरघुनाथजीकी दयावीरता और धर्म (शरणागतवत्सलता) वीरताके विचारसे *'रघुबीर'* पद दिया—**'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरः सदा स्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥'** स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि त्यागवीरता और विद्यावीरता भी सूचित की हैं। भरोसा है कि अपनी प्रतिज्ञा तथा पिताकी आज्ञाका त्याग करके *'आवहिं बहुरि राम रजधानी।'* *'को जिय कै रघुबर बिनु बूझा'* यह विद्यावीरता है। *'छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी।'* दयावीरता है। *'आपन जानि न त्यागिहहिं'* यह धर्मवीरता है। (ग)—भरत-भाषणका उपक्रम *'बचन अमिय जनु बोरि"" ॥'* (१७६) है और *'भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधा जनु पागे॥'* (१८४। १) उपसंहार है।

नोट २—मिलान कीजिये—गीतावलीमेंके भरतजीके—*'रामसपथ कोउ कछु कहै जिमि मैं दुख दुसह सहा है। चित्रकूट चलिये सब मिलि बलि छमिये मोहि हहा है।"" जानहिं सियरघुनाथ भरतको सील सनेह महा है।'* (२। ६४) पुनः, *'भाई! हौं अवध कहा रहि लैहौं। रामलषनसिय चरन बिलोकन काल्हि काननहिं जैहौं। जद्यपि मोते कै कुमात तें है आई अति पोची। सनमुख गए सरन राखहिंगे रघुपति परम सकोची॥'* (२। ६५) इन वचनोंसे।

☞ कैकेयी-दशरथ, कैकेयी-भरत और अवधवासियोंके वचनोंका मिलान करनेसे बहुत-सी चौपाइयोंके भाव स्पष्ट हो जायँगे—

श्रीदशरथजी	श्रीभरतजी	अवधवासी
कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी (२६)	*१ सुनि सुत बचन सनेहमय कपटनीर॰*	
एकहि बात मोहि दुख लागा (३१)	*२ भरत श्रवन मन सूल सम पापिनि॰*	
सोक बिबस कछु कहइ न पारा।	*३ सुनत भरत भए बिबस बिषादा-*	*१ अति बिषाद बस लोग लोगाई*
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन।""	*४ सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।*	
गएउ सहम नहिं कछु कहि आवा	*५ जनु सहमेउ करि केहरिनादा*	
परेउ धरनि धुनि माथ""ब्याकुल	*६ परे भूमितल ब्याकुल भारी-*	*२ सुनि भे बिकल सकल नर नारी*
मनहु धाय महँ माहुर देई (३४)	*७ मरम पाँछि जनु माहुर देई*	
मानहुँ लोन जरे पर देई	*८ मनहु जरे पर लोन लगावति*	
अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा	*९ पाके छत जनु लाग अँगारू*	
सिर धुनि लीन्ह उसास""	*१० धीरजु धरि भरि लेहिं उसासा*	
जनि दिनकर कुल होसि कुठारी (३३)	*११ पापिनि सबहि भाँति कुल नासा-*	*३ एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ*
जीवन मोर राम बिनु नाहीं।	*१२ मीन जियन निति बारि उलीचा*	*छाइ भवनपर पावक धरेऊ*
लोचन ओट बैठु मुह गोई (३५)	*१३ आँखि ओट उठि बैठहि जाई-*	*४ ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी*
लागेउ तोहि पिसाच जिमि""	*१४ जो हसि सो हसि*	
बिधि बस कुमति बसी उर तोरे (३५)	*१५ जबते कुमत कुमति जिय ठयऊ*	

मरम बचन सुनि राउ कह	*१६ राम बिरोधी''''मो समान को*	
कहु कछु दोष न तोर (३५)	*पातकी बादि कहउँ कछु तोहि।*	
सब कोउ कहहिं राम सुठि साधू	*१७ अस''''जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं।*	
जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला	*१८ अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा*	
लोभ न रामहि राज कर	*१९ राम पुनीत बिषय रस रूखे (१)*	*५ नाहिं न राम राजके भूखे*
अब सुनि मोहि भयेउ संदेहू	*२० बिधिहु न नारि हृदय गति जानी—*	*६ जानि न जाइ नारि गति भाई*
सो सब मोर पाप परिनामू (३५)	*२१ मोहि समान को पापनिवासू*	
भयेउ कुठाहर जेहि बिधि बामू	*२२ मरन समय बिधि मति हरि लीन्हा-*	*७ अबला बिबस ज्ञान गुन गाजनु*
देखि ब्याधि असाध नृप	*२३ एहि कुरोग कर औषध नाहीं*	
बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा	*२४ करत बिलाप बहुत एहि भाँती*	
	बैठेहि बीत गई सब राती	
अजस होउ जग सुजस नसाऊ	{ *डरु न मोहि जग कहहि कि पोचू*	*८ सबहि बिचारु कीन्ह मन माहीं।*
नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ। २५	*परलोकहु कर नाहिंन सोचू*	*राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं।*
लोचन ओट राम जनि होहू	*देखे बिनु रघुबीर पद जियकै जरनि न जाइ*	*बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू।*
	बिलपत राजगृह मानहुँ सोक निवासु	*९ मनहु करुन रस कटकई उतरी''''*
	भूप प्रतीति तोर किमि कीन्हा	*१० एक कहहिं भल भूप न कीन्हा*
	भे अति अहित राम तेउ तोही	*११ राम सरिस सुत कानन जोगू*
	सरल सुसील धरमरत राऊ	*१२ एक धरम परमिति पहिचाने*
	सो किमि जानइ नारि सुभाऊ	*१३ नृपहि दोषु नहिं देहिं सयाने*
	पेड़ काटि तैं पालउ सींचा	*१४ पालव बैठि पेड़ एहि काटा*
	धिग मैं भयउँ बेनु बन आगी	*१५ भइ रघुबंस बेनु बन आगी*
	एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल	*१६ चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई*

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधा जनु पागे*॥ १॥
लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥ २॥
मातु सचिव गुर पुर नर नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी॥ ३॥
भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥ ४॥

शब्दार्थ—पागे=शीरे, चाशनी या किवाममें साने, लपेटे या डुबोये हुए। **सबीज**=तान्त्रिकोंके अनुसार एक प्रकारके मन्त्र जो बड़े-बड़े मन्त्रोंके मूलतत्त्वके रूपमें माने जाते हैं, उन्हें बीज-मन्त्र कहते हैं। प्रायः मन्त्रका प्रथम वर्ण बिन्दुसहित उस मन्त्रका बीज होता है। पूरे मन्त्रका अर्थ बीजमें निहित रहता है। बीजयुक्त मन्त्र बड़ा प्रभावशाली होता है।=बड़े प्रभावशाली। **जागे**=चैतन्य हो गये। **दागे**=दग्ध, जले हुए।

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सबको प्रिय लगे (ऐसे मालूम होते थे) मानो वे श्रीराम-प्रेमामृतमें पगे हुए थे॥ १॥ श्रीरामजीके वियोगरूपी भीषण विषसे सब लोग दग्ध थे वे मानो बीजयुक्त मन्त्र सुनते ही चैतन्य हो गये॥ २॥ माता, मन्त्री, गुरु, पुरवासी, स्त्री-पुरुष सभी प्रेमके कारण अत्यन्त व्याकुल हो गये॥ ३॥ सब भरतजीको सराह-सराहकर उनसे कहते हैं कि तुम्हारा शरीर रामप्रेमकी मूर्ति ही है, अर्थात् ऐसा जान पड़ता है कि श्रीरामचन्द्रजीका प्रेम भरतका शरीर धरकर मूर्तिमान् हो रहा है। वा, कह रहे हैं कि रामप्रेमकी मूर्ति हैं, रामप्रेमके तन ही हैं॥ ४॥

* इस चौपाईका दूसरा और तीसरा चरण राजापुरकी पोथीमें नहीं है।

टिप्पणी—१ भरतजीके वचन सबको प्रिय लगनेका कारण उत्तरार्धमें दिया कि वचन श्रीरामजीके स्नेहरूपी अमृतमें सने हुए जान पड़ते हैं। अमृत सबको प्रिय है। अवधवासी सब रामस्नेही हैं; अतएव ये वचन सबको प्रिय लगे। उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें अमृतवाची विशेषण दिया है। उपक्रम है—*'बचन अमिअ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि।'* (१७६)

उत्तर अप्रिय होता है, इसीसे पूर्व इन्होंने क्षमा माँगी—*'ऊतरु देउँ छमब अपराधू।'* उत्तर अप्रिय होता है, प्रमाण यथा—*'उतर देत छाँड़ौं बिनु मारे।'*(१-२७५) *'उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा॥'* (७। १११-१४) पर भरतका उत्तर सबको प्रिय लगा। यह उनकी बुद्धिकी विशेषता है। *'जनु'* पद देकर उत्प्रेक्षा की। रामस्नेह तो श्रीराम ही जानेंगे, दूसरा कैसे जाने?

टिप्पणी—२ *'लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज'*.... ' इति। रामवियोग विषम विष है उससे लोग दग्ध थे। अर्थात् वियोगविषके कारण मूर्छित दशाको प्राप्त थे। विष मन्त्र-श्रवणसे शान्त होता है। यहाँ भरतजीके *'एकै आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥'* यह वचन बीजयुक्त मन्त्र है। इसीको सुनकर सबका वियोग दुःख नष्ट हुआ। वचन *'अमिय जनु बोरि'* है, इसीसे *'मंत्र सबीज सुनत जनु जागे'* कहा; जीवित करना दोनोंका धर्म है। मन्त्रका पहला अक्षर अनुस्वारसहित हो, वही बीज है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि तीक्ष्ण हालाहल बदरिकाश्रमके वन और पहाड़ोंमें होता है जिसका स्पर्शित पवन कोसोंतक शरीरमें लगनेसे 'प्रथम तोरति' (शरीर टूट-सा जाता है) और अन्तमें ऐसा अपूर्वसुख देहमें प्राप्त होता है कि तुरत उसकी दवा यवके सत्तू और शहद मिलाकर भोजन न कर ले तो वह मूर्छित होकर गिर पड़ता है, तब *'गंगा गौरी बे द्वौ रानी। ठोकर मारि करो बिष पानी॥ गंगा बाँटैं गौरा खाई। अठारह मार विष निर्बिष ह्वै जाई। गुरुकी शक्ति मेरी भक्ति फुरो मंत्र ईश्वरोवाच ठः ठः ठः॥'* यह मन्त्र सुनाये जानेसे सचेत होता है। उसीका यहाँ रूपक है।

वि० त्रि०—भरतजीके वचनमें सबपर आक्षेप था, परन्तु *'बचन अमिय जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहिं'* प्रेमामृतसे डूबाडूब वचन थे, इसलिये किसीको बुरा नहीं मालूम हुआ, सबको वचन प्रिय लगे। भरतजीके तिलकके प्रस्तावपर गुरुजी बोले, मन्त्री बोले, माताएँ बोलीं, पर प्रजावर्ग कुछ न बोले, वे मानो सो रहे थे। जब रामजी राजा न हुए, वन चले गये तो जो चाहे सो हो, इस विचारसे उनकी ओरसे पूरी उपेक्षा थी। सो जैसे देवता सबीज मन्त्रसे जाग उठते हैं, जपकर्ताके उन्मुख होते हैं, उसी भाँति प्रजा जागकर भरतजीकी ओर उन्मुख हुई, उनकी उपेक्षा जाती रही, यथा—*'भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही—'*(इसके अनुसार 'लोग' से प्रजावर्ग अभिप्रेत है)।

मयङ्क—वचन मन्त्रमें *'जाउँ राम पहिं आयसु देहू'* यह कील है, *'प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं'* यह अखण्ड शक्ति है *'आवहिं राम बहुरि रजधानी'* यह बीज है और प्रेमपूर्वक रामजीको दण्डवत् करना न्यास है—*'पाहि पाहि कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं'*॥

टिप्पणी—३ (क) *'लोग बियोग बिषम बिष दागे'*......।' यह साधारण लोगोंकी व्यवस्था कहकर तब *'मातु सचिव गुर पुर नर नारी'*....' विशेष जनोंकी बात कही कि ये सब स्नेहके कारण भारी व्याकुल हुए। भरतजीके वचन सुनकर रामविरहकी अग्नि भड़क उठी और सब भरतजीकी बारंबार प्रशंसा करने लगे। (ख) *'सनेह बिकल भये भारी'* इति। जबतक विष चढ़ा रहा, तबतक अचेत रहे। अब सबीज मन्त्र सुननेसे विष उतरा और चेतना आयी तब व्यथा मालूम हुई। [वा, श्रीभरतजीकी दीनता और भक्ति देखकर ऐसा करुणामय स्नेह उमड़ा कि सब भारी व्याकुल हो गये, किसीको देहकी सुध न रह गयी (वै०)। इन शब्दोंसे वाल्मी० (२। ८२। १७) के '**तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः। हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः**।' का भाव आ गया कि भरतजीके धर्मयुक्त वचन सुनकर श्रीराममें प्रेम रखनेवाले सभी सभासद् हर्षसे रोने लगे।]

टिप्पणी-४ *'राम प्रेम मूरति तनु आही'* इति। मूरति और तन दो शब्द दिये। बहुत लोग हैं। *'सराहि*

सराही' दो बार इसीसे कहा अर्थात् बारंबार। दो शब्द देकर जनाया कि कोई कहता है कि रामप्रेमकी मूर्त्ति हैं और कोई कहता है कि रामप्रेमका तन (शरीर) ही हैं।

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान रामप्रिय अहहू॥ ५॥
जो पाँवरु अपनी जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई॥ ६॥
सो सठु कोटिक पुरुष समेता। बसहिं कलप सत नरक निकेता॥ ७॥
अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥ ८॥

शब्दार्थ—'सुगाइ'—'सुगाना'=संदेह करना, शक करना।=दोष लगाना। यथा—*'आजुहि ते कहुँ जान न देहौं मा तेरी कछु अकथ कहानी। सूर श्यामके सँग ना जेहौं जा कारण तू मोहि सुगानी।'* 'पुरुष'=पूर्वज, पुरुखा, पीढ़ी।

अर्थ—हे तात! हे भरत! तुम ऐसा क्यों न कहो? तुम श्रीरामचन्द्रजीको प्राणोंके समान प्रिय हो॥ ५॥ जो नीच अपनी मूर्खतासे तुमपर माताकी कुटिलताका संदेह करके बिगड़े वह मूर्ख करोड़ों पुरुषाओंसहित सैकड़ों कल्पतक नरकरूपी घरमें वास करेगा॥ ६-७॥ सर्पका पाप और अवगुण मणि नहीं ग्रहण करता (वरन्) वह विष, दुःख और दरिद्रको जला डालता है (दूर कर देता है)॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'तात भरत·····'* से *'अवसि चलिय बन·····'।* (१८४) तक गुरुके वचन हैं। (ख) *'प्रान समान रामप्रिय',* यथा—*'रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती॥'* (२।७।८) *'तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे।'* (१६९। १), *'तुम्ह पर अस सनेह रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥'* (२०८। ६) (ग) *'जो पाँवरु·······निकेता'* इति। मिलान कीजिये—*'एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भाय सुनि रहहीं। कान मूँदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा। सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। रामु भरत कहुँ प्रान पिआरे॥'* (४८।६।८)। और ऐसा ही श्रीकौसल्याजीने कहा—*'मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥'* (१६९। ४) (घ) *'नरक निकेता'* से जनाया कि नरक ही उनका घर बन जायगा कि कभी छूटे नहीं।

टिप्पणी—२ *'अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई।'''* इति। सर्पमें विष, मणि और विषद्वारा प्राणघात वा हिंसा ये तीन बातें हैं। मणि विषके साथ ही रहता है पर विष उसमें नहीं लगता। उसे धोकर पिलावे या धारण करावे तो जिसको सर्पने काटा हो उसका विष उतर जाता है। सर्पके हिंसाका दोष मणिपर नहीं लगता। कैकेयी सर्प है, यथा—*'मानहुँ सरोष भुअंगभामिनि बिषम भाँति निहारई। दोउ बासना रसना दसन बर'''।'* (२५) कैकेयीने रामवनवासद्वारा पतिको मारा और सब अवधवासियोंको अचेत कर दिया, यह पाप तुमपर नहीं लगाया जा सकता। तुम मणि हो। रामवनगमनजनित वियोग-दुःखरूपी विषके हरनेवाले हो, सब लोग विषसे दागे हुए थे, तुमने सबको आनन्द दिया।

[मणि विष, दुःख और दरिद्रताको हरता है। भाव कि पिता-माताका दोष पुत्रमें हो यह जरूरी नहीं। सब पुरवासी रामधन गँवाकर दरिद्र हो गये थे, यथा—*'मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू। भयउ बिकल बड़ बनिक समाजू॥'* (८६। ३) *'फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।'* (९९। ८) वह धन प्राप्त कर देनेको भरतजी चल रहे हैं।]

नोट—*'जो पाँवरु अपनी जड़ताई'''नरक निकेता'* यह मानो शाप है। इसपर यह शङ्का होती है कि नगवासियों और निषाद आदिने भी तो शङ्का की है? उसका समाधान यह है कि वे सब रामानन्य हैं इससे उन्होंने ऐसा कहा। दूसरे इसका उद्धार भी श्रीरामचन्द्रजीने कर दिया है, यथा—*'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥'* (२६३) और *'अहि अघ अवगुन'* इसमें भी इसका निर्वाह कर दिया गया है। मणि विषको दूर करता है, भरतका स्मरण उस पापका हरण करेगा।

दो०—अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोकसिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥ १८४॥

शब्दार्थ—कीन्ह=किया, विचारा है, सोचा है।

अर्थ—हे भरत! अवश्य ही वनको चलिये जहाँ श्रीरामजी हैं। तुमने बहुत अच्छी सलाह विचारी है। तुमने शोकसमुद्रमें डूबते हुए सबको सहारा दिया है। १८४।

पाँड़ेजी—१ यदि वे कहें कि पहले क्यों इसके विपरीत कहते थे, उसका उत्तर है कि हम शोकसमुद्रमें डूब रहे थे, कोई बचनेका सहारा न देख पड़ता था, इससे सब अचेत थे। अब अवलंब मिला तब सचेत हुए। श्रीदशरथ-विलाप-समय कौसल्याजीने कहा था—'*धीरज धरिय त पाइय पारू। नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू॥*' धीरज न धरा तो चाहिये था कि सब डूब जाते। उसका उद्धार इस दोहेमें है।

२—शोकका समुद्रसे रूपक यहाँ है पर उसके और कोई अङ्ग नहीं कहे गये। यह 'निरंग रूपक' है।

नोट—श्रीभरतजीने अपने सम्बन्धमें ही कहा था कि '*प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं*'। अपने चलनेका समय बता दिया था; अब सब एक स्वरसे "*अवसि चलिअ*' कहकर जना देते हैं कि हम सब भी साथ चलेंगे।

वि० त्रि०—प्रजा बोल उठी '*भरत मंत्र भल कीन्ह*'। उसे गुरुजीका, सचिवका तथा माताका मन्त्र पसंद नहीं था, परंतु भरतलालमें कोई दोष भी नहीं था, अतः प्रजाने विरोध भी नहीं किया, उपेक्षा किये बैठी रही, मानो सो रही है। अब सबीज मन्त्र सुनकर देवताकी भाँति जागी है, तो भरतजीकी माँगी हुई आज्ञा दे रही है '*अवसि चलिअ बन राम पहँ*'। आशीर्वादके स्थानपर कह रही है कि हमलोग तो शोकसिन्धुमें डूब रहे थे तुम ही हमलोगोंके आधार हुए। इस भाँति जो आधार होता है; उसे क्या आशीर्वाद माँगना पड़ता है? उसे रोम-रोम आप ही आशीर्वाद देता है। दोहा १८३ नोट भी देखिये।

भा सब कें मन मोदु न थोरा। जनु घन धुनि सुनि चातक मोरा॥ १॥
चलत प्रात लखि निरनउ नीकें। भरतु प्रानप्रिय भे सब ही कें॥ २॥
मुनिहिं बंदि भरतहि सिरु नाई। चले सकल घर बिदा कराई॥ ३॥
धन्य भरत जीवनु जग माहीं। सीलु सनेह सराहत जाहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—निरनउ=निर्णय, निश्चय, फैसला।

अर्थ—सबके मनमें कुछ थोड़ा आनन्द नहीं (अर्थात् बहुत) हुआ, मानो मेघोंका शब्द सुनकर चातक और मोर आनन्दित हो रहे हैं॥ १॥ 'प्रातःकाल चलते हैं' यह निश्चय निर्णय अच्छी तरह लखकर श्रीभरतजी सभीको प्राणप्रिय हो गये॥ २॥ मुनिकी वन्दना करके और श्रीभरतजीको माथा नवाकर सब लोग बिदा माँगकर घर चले॥ ३॥ श्रीभरतजीके शील और स्नेहको सराहते जाते हैं और कहते हैं कि संसारमें भरतजीका जीवन धन्य है॥ ४॥

नोट—१ '*भा सब कें मन मोदु न थोरा।*"' इति। (क) सब शोक-समुद्रमें डूबनेसे बचे, जान बची, शोक-दुःखका निवारण हुआ, अतएव हृदयमें बड़ा आनन्द हुआ। वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि **'ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः।'** (२। ७९। १७) **'प्रहर्षजास्तं प्रतिबाष्पबिन्दवो निपेतुरार्याननेत्रसम्भवाः'** ॥ १६॥ सभी सभासद् शोकहीन होकर पुलकित हो गये, उनके नेत्रोंसे हर्षके मारे अश्रु गिरने लगे। कैसा आनन्द हुआ यह उत्प्रेक्षाद्वारा कहते हैं—'*जनु घन सुनि धुनि चातक मोरा*'। चातक और मोर दोनों मेघके अनुरागी हैं। (पु० रा० कु०) (ख)—यहाँ श्रीभरतजी मेघ, उनके शब्द कि '*प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं*' मेघकी गर्जन, श्रीरामजी जल, सभाके सब लोग चातक और मोर हैं। (ग) चातक और मोर दोकी उत्प्रेक्षा करनेके भाव—(१) श्रीरामरूप जलकी प्राप्तिकी आशाके सम्बन्धसे

चातक कहा और श्रीरघुनाथजीके संयोगके वचन सुनकर प्रसन्नता और प्रफुल्लित होनेसे मोरकी उपमा दी। (२) श्रीरामजीके अनन्य भक्त चातक हैं, यथा—*'जानत हौ सबहीके मनकी। तदपि कृपालु करौं बिनती सोइ सादर सुनहु दीनहित जन की॥'* (१) *ये सेवक संतत अनन्य अति ज्यों चातकहि एक गति घनकी। यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरत परिजन की॥'* (गी० २। ७१) (यह श्रीभरतजीने श्रीरामजीसे चित्रकूटमें कहा है) और ईश्वरकी प्राप्तिके लिये जो सब देवताओंको पूजते हैं वे मोर हैं (पु० रा० कु०) (३) चलनेकी खुशीमें मोरकी तरह नाचने लगे और श्रीरामदर्शनकी आशासे भावी आनन्दका सुख हुआ। (वि० टी०) भावी आनन्द प्रभुका दर्शन होनेपर कविने दिखाते हुए सबको मोरकी उपमा दी है। वहाँ उत्प्रेक्षा की है और यहाँ आनन्द मिलनेपर उपमा दी। यथा—*'बिहरहिं बन चहुँ ओर प्रति दिन प्रमुदित लोग सब। जल ज्यों दादुर मोर भये पीन पावस प्रथम॥ '* (२५१)

नोट—२ *'चलत प्रात लखि निरनउ नीके।'''*', यथा—*'एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं''''*'। यह भरतजीका निश्चित निर्णय है, यह जानकर सब कहने लगे कि भरतजी धन्य हैं, बड़े सुकृती हैं, इनका जीवन धन्य है, इत्यादि; इसीसे उनका सबको प्राणप्रिय होना कहा। देखिये, जब श्रीभरतजी ननिहालसे आये थे तब कोई उनसे बोलता भी न था; क्योंकि उनको संदेह हो गया था कि ये रामविरोधी न हों एवं इससे कि वे सब रामवियोगसे दुःखी थे। यह जानकर कि ये श्रीरामजीको लौटाने तथा उन्हींको राज्य देनेके लिये चल रहे हैं, सबका संदेह और शोक दूर हुआ, रघुकुलके धर्मकी रक्षा हुई; क्योंकि धर्मानुकूल श्रीरामजीको ही राजा होना चाहिये था और प्राप्त राज्य छोड़कर भाईको देंगे, इससे भरतजीका श्रीरामप्रेम, त्याग और धर्मधुरंधरता प्रकट हुई। अतः सबको वे प्राणप्रिय हो गये। वाल्मी० २। ७९। १५ में सभासदोंने कहा कि आप भाईको राज्य देना चाहते हैं अतः पद्मचिह्नयुक्त लक्ष्मी आपको प्राप्त हो। यह भाव भी इसमें आ गया।

नोट—३ (क) *'मुनिहि बंदि'''बिदा कराई।'* दोनोंको प्रणाम करके, बिदा माँगकर चले। आज्ञा लेकर जाना यह शिष्टाचार है, यथा—*'माँगत बिदा राउ अनुरागे।'* (१। ३६०। ५) *'रामहि देखि रजायसु पाई। निज निज भवन चले सिरु नाई॥'* (१। ३५५) *'चलेउ पवनसुत बिदा कराई।'* (५। ८। ५) (ख) मुनिके लिये *'बंदि'* और भरतके लिये *'सिरु नाई'* पद देकर जनाया कि मुनिकी स्तुति भी की कि आप-सरीखे जिस कुलमें गुरु हों उसके शिष्य ऐसे क्यों न हों। (पं०)। (ग) यहाँतक समाजका मन, कर्म, वचनसे प्रेम दिखाया—मनमें मोद, प्रणाम कर्म है और वचनसे सराहते हैं। (घ) *'सीलु सनेह'* —शीलअस्मदादिक (अपने सबके) प्रति, स्नेह श्रीरामजीके प्रति।

नोट—४ सभाकी समाप्ति हुई। *'सुदिन सोधि मुनिबर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाए॥ बैठे राजसभा सब जाई।'* (१७१। २। ३) उपक्रम है। *'चले सकल घर बिदा कराई।'* (१८४। ३) उपसंहार है।

प्रथम (अवध) दरबार समाप्त हुआ

कहहिं परस्पर भा बड़ काजू। सकल चलइ कर साजहिं साजू॥५॥
जेहि राखहिं रहु घर रखवारी। सो जानइ जनु गरदन मारी॥६॥
कोउ कह रहन कहिअ नहिं काहू। को न चहइ जग जीवन लाहू॥७॥

दो०—जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करइ न सहस सहाइ॥१८५॥

शब्दार्थ—**गरदन मारी**—(मुहावरा है) गला काट डालना, गलेपर तलवार चलाना, मार डालना, बुराई करना, बड़ी हानि पहुँचाना। **सहस**=सहस्र=हजार। हँसते हुए, हर्षसहित।

अर्थ—सब आपसमें कहते हैं कि बड़ा काम हुआ। सभी चलनेका सामान ठीक कर रहे हैं॥५॥

जिसको रखते हैं कि रखवालीके लिये घर रहो वह समझता है कि मानो मेरी गरदन मारी गयी॥ ६॥ कोई-कोई कहते हैं कि किसीको रहनेको न कहो, कौन संसारमें जीनेका लाभ नहीं लेना चाहता? अर्थात् सभी रामदर्शनसे जन्मका लाभ चाहते हैं॥ ७॥ वह सम्पत्ति, घर, सुख, मित्र, माता, पिता और भाई जल जायँ। (अर्थात् व्यर्थ हैं त्याज्य हैं) जो श्रीरामचरणके सम्मुख होनेमें सहस्रों प्रकारसे एवं हँसते हुए प्रसन्नतापूर्वक सहायता न करें॥ १८५॥

नोट—१ (क) *'कहहिं परस्पर भा बड़ काजू।'''''* इति। बड़ा काम (लाभ) सब प्रकारसे है—श्रीभरतजीकी ओरसे कुटिलताका संदेह मिटा, उनको राज्य देनेका निश्चय करके आये और निश्चय हुआ श्रीरामदर्शन और श्रीरामजीका लौटना। रामवियोगसे परम हानि हुई थी और रामप्राप्ति बड़ा लाभ हुआ। श्रीरामजीकी प्राप्ति, उनका दर्शन, उनका साथ सब परम लाभ है। श्रीलक्ष्मणजीने भी इसे बड़ा लाभ माना है। यथा—*'आवहु बेगि चलहु बन भाई। मुदित भए सुनि रघुबर बानी। भयउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी॥'* (७२। १। २) (ख) *'साजहिं साजू'* का दूसरा भाव भी यहाँ है कि स्वयं सब तैयारी करने लगे और औरोंसे कहते हैं कि 'सभी चलनेका सामान ठीक करें।' (पु० रा० कु०)

नोट—२ *'जेहि राखहिं'''जनु गरदन मारी'* इति। गर्दन मारी, यह कविकी उक्ति है। श्रीरामशरणमें बाधा करनेवाला पूरा शत्रु है। (वै०)

नोट—३ *'जरउ सो संपति'''''* इति। ☞श्रीरामशरणमें बाधा करनेवालेके लिये यह उपदेश है। *'जाके प्रिय न राम बैदेही।'''''* विनयके इस पदसे तथा *'गज बाजि घटा भलि भूरि भटा, बनितादिक भौंह तकै सब कै। धरनी धन धाम सरीर भलो सुरलोकहु चाहि इहै सुख स्वै॥ सब फोटक साटक है तुलसी अपनो न कछू सपनो दिन द्वै। जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जियै जग में तुम्हरो बिनु ह्वै॥'* (क० उ० ४१) मिलान करें यहाँ तिरस्कार अलङ्कार है। यह 'प्रतिकूलका' त्याग शरणागतिका लक्षण है। *'सहस सहाइ'* का चरितार्थ आगे है।

वि० त्रि०—घरकी रखवारीके लिये सुहृद्, माता, पिता और भाई कह रहे हैं कि सब लोग यदि रामजीके पास ही चले जायँगे तो घरकी रक्षा कौन करेगा, सम्पत्ति लुट जायगी, इसपर कहते हैं कि राम-सम्मुख होनेमें जो सम्पत्ति और गृह-सुख बाधा कर रहे हैं; उन्हें जलने दो, वे बड़े अहितकर हैं और वे सुहृद्, माता-पिता, भाई भी सर्वथा त्याज्य हैं। सम्पत्ति, सदन-सुख, सुहृद्, माता-पितादि वे ही माननीय हैं जो रामजीके सम्मुख होते हुएको यावद्बुद्धिबलोदय सहायता करें, अतः किसीको रहनेको न कहो, जो चलें सबको चलने दो, घरकी चिन्ता छोड़ो, राम-सम्मुख जानेवालेको घरकी कौन चिन्ता है **'सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्।'**

नोट—४ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मणिकार, कुम्हार, जुलाहे, हथियार बनानेवाले, मायूरक, आराकश, वेधक, रङ्गसाज, दन्तकार, वैद्य, चूना पोतनेवाले, गंधी, सुनार, धोबी, दरजी, नट, मल्लाह, योगी, वेदज्ञ, सदाचारी, ब्राह्मण आदि सभी श्रीराम-दर्शनके लिये प्रसन्नतापूर्वक चले। (२। ८३। ११—१६) यह सब *'रहन कहिय न काहू।'''* से जना दिया है।

☞ इस दोहेमें सात ही अर्धालियाँ सब प्राचीन पोथियोंमें मिलती हैं। *'सबके मन मोद न थोरा',* अतः जान पड़ता है कि कवि भी मग्न हो आठका क्रम भूल गये। हाँ! पंजाबीजीने आठवीं अर्धाली यह दी है—*'प्रात गमन सुनि सभै अनंदू। बिसर गये दुख दारिद दंदू॥'*

मा० हं०—'अध्यात्म और वाल्मीकिरामायणोंमें भरतजीका वर्णन है तो सही, परंतु गोस्वामीजीके भरत-वर्णनकी तुलनामें उस वर्णनका होना-न-होना बराबर ही है। स्वामीजीका वर्णन जिस उत्कृष्टतासे अङ्कित हुआ है उससे पाठकोंको यहाँतक भ्रम हो जाता है कि अयोध्याकाण्डके नायक कौन कहे जायेंगे, भरतजी या रामजी ?''''''पाठकको इतना विश्वास हुए बिना तो रहता ही नहीं कि स्वामीजीका भरतचरित यदि इतनी उत्कृष्टताको न पहुँचा होता तो इस रामचरितमानसका आज-जैसा वर्तमान प्रचार कदापि न दिखायी

देता। हमारी दृष्टिसे रामचरितमानसका प्राण निःसंशय भरतजी ही हैं। और वह यदि न होता तो उसका आत्मा रामजी '**एकाकी न रमते**'। इस प्रकार बड़ी ही बिमनस्कतासे दिखायी देते।'......इसमें किञ्चित् भी संदेह नहीं कि स्वामीजीका लोक-शिक्षाका उद्देश्य उनके रामजीसे यदि अधिकसे न हो तो निश्चयसे उनके बराबरीसे तो भी उनके भरतजीने सुफलित किया है।

'भरतजीके कारण स्वामीजीका परिचय अथवा स्वामीजीके कारण भरतजीका परिचय इस प्रकारके उपस्थितितक अयोध्याकाण्डके सौष्ठवकी मंजिल आ पहुँची है इसमें कुछ भी शंका नहीं। इसका कारण यही दीखता है कि इस रामायणके भरत-भागमें रामरसका अविच्छिन्न पानकर मत्त होनेको जितना अवसर मिलता जाता है उतना अन्य किसी भी रामायणमें नहीं मिल सकता। यह सब गोस्वामीजीके आन्दोलनका ही परिणाम समझना चाहिये। उनके आन्दोलनद्वारा भरतजीका हृदय यदि इस प्रकार स्पष्ट न होता तो सेवाधर्मका हृदय भी कदापि इतना व्यक्त न होता; और मुख्यतः लोक-शिक्षाके सम्बन्धमें भाषाकी अप्रवृत्तिके कारण सेवाधर्म जो बिलकुल ही अनाथ हुआ जाता था वह कभी भी ऐसा सनाथ होता हुआ न दिखायी देता। इस कारणकी दृष्टिसे यदि देखो तो भरतजी और तुलसीदासजीका '**यत्तदोः**' के सदृश नित्य सम्बन्ध क्यों न समझा जावे?

'अस्तु! स्थूलदृष्टिसे देखनेपर भी गोस्वामीजीके अयोध्याकाण्डके दो विभाग होते हैं—दशरथनिधनतक पूर्वार्द्ध और अवशेष (यानी भरत-चरित) उत्तरार्ध। पूर्वार्धके रामप्रेमको अन्धप्रेम कहना कदाचित् समुचित होगा, क्योंकि उसमें रामजीका सत्य (अर्थात् आध्यात्मिक) स्वरूप आत्मानुभवी महात्माओंके व्यतिरिक्त प्रायः सभी सामान्य जनताको अविदित था। उस स्वरूपका सर्वसामान्य बोध उत्तरार्धमें हुआ; और रामविषयक अन्धप्रेमका रूपान्तर प्रबुद्ध वा विवेकी प्रेममें। इस कारण उक्त काण्ड-विभागोंको क्रमशः ज्ञानपूर्वक भक्तियोगका भाग और ज्ञानोत्तर भक्तियोगका भाग कहना अनुचित न होगा।

'उक्त विभाग-कल्पनाका प्रादुर्भाव भरतजीके ही कारण हुआ है, इसमें कुछ संदेह नहीं। अयोध्याकाण्डके रङ्गभूमिपर यावत् भरतजीका पाँव न था तावत् वहाँ रामविषयक-प्रेममें मोहका ही साम्राज्य फैल रहा था। परंतु भरतजीका पाँव उसे लगनेकी ही देर थी कि मोहका साम्राज्य एकदमसे नष्ट होकर रामजीके सत्य-स्वरूपरूपी स्वराज्यकी प्रभा सभीकी आँखोंमें भरने लगी और तुरंत ही मोहकी जगह आनन्द छाकर शोकाकुलित सारी अयोध्या ***'जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ॥'*** इस प्रकार घर-द्वारसे उदासीन होकर भरतजीके छत्रके नीचे आनन्दसे अचल बनकर रामदर्शनके लिये लौट पड़ी।

'अयोध्या छोड़नेतकका वर्णन हमारी समझसे भरतचरितका पूर्वरङ्ग है। इस पूर्वरङ्गका दिग्दर्शन हमने करा दिया। अब भरत-चरित्रके उत्तररंगकी ओर चलेंगे।'—२०५ (१-५) में देखिये।

प० प० प्र०—भरत-भाषण अनुपम वक्तृत्वशैलीका बेजोड़ उदाहरण है। सभा तो जुड़ी थी भरतको राज्याभिषेक देनेके लिये, पर भरतजीका सम्भाषण कैसा प्रभावशाली था कि सभी उनके साथ वन-गमनके लिये ऐसे आर्त हो गये कि उनके मुखसे *'जरउ सो......'* ये शब्द निकल पड़े। शैक्सपीयरके *'जूलियस सीजर'* नाटकमें सारी सभा जो जूलियस सीजरकी विरोधी (ब्रूटसका भाषण सुनकर) हो गयी थी, वही मार्क ऐन्टनीका भाषण सुनकर सीजरकी भक्त बन गयी। पर उसमें केवल व्यावहारिक बोध है। वहाँ भक्त और भगवान्के सम्बन्धका ऐसा परमोच्च आदर्श नहीं है।

घर घर साजहिं बाहन नाना। हरषु हृदयँ परभात पयाना॥ १॥
भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगरु बाजि गज भवन भँडारू॥ २॥
संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतनु चलौं तजि ताही॥ ३॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पाप सिरोमनि साँइ दोहाई॥ ४॥

करइ स्वामिहित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥५॥

शब्दार्थ—**परभात**=प्रभात, सबेरे। **परिनाम**=फल,नतीजा, अन्तमें। पापशिरोमणि=पापोंमें सबसे बड़ा पाप।=पापियोंमें शिरोमणि, यद्यपि **'नृशंसो घातुकः क्रूरः पापः ३।१।४७ इत्यमरकोषे', 'चत्वारि परद्रोहकारिणः' इति अमरव्याख्यासुधायाम्'** (प० प० प्र०), इन प्रमाणोंसे पापिशिरोमणि अर्थ हो सकता है तथापि यहाँ प्रथम साधारण अर्थ ही संगत है। **'पापं किल्बिषं कल्मषम्।'** (अमर १। ४२६)। **दोहाई**=द्रोह करना, यथा—*'साँइ दोह मोहि कीन्ह कुमाता।'* (२०१। ६) *'हौं तो साँइ दोही पै सेवकहित साँई'*—(विनय)

अर्थ—घर-घर लोग अनेक प्रकारकी सवारियाँ सजा रहे हैं, हृदयमें हर्ष है कि सबेरे चलना है॥१॥ श्रीभरतजीने घर जाकर विचार किया कि नगर, घोड़े, हाथी, महल, खजाना॥२॥ सब सम्पत्ति रघुनाथजीकी है। जो इसकी रक्षाका उपाय किये बिना इसे छोड़कर चल दूँ॥३॥ तो परिणाम (अन्तमें) मेरी भलाई नहीं। स्वामिद्रोह पापोंमें शिरोमणि (सबसे बढ़कर पाप) है॥४॥ सेवक वही है जो स्वामीका हित (भलाई) करे, चाहे कोई उसे करोड़ों दोष क्यों न लगावे॥५॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'घरघर साजहिं·····'।* (क) सभाके लोग मार्गमें भरतकी प्रशंसा करते और सबसे चलनेको कहते जाते थे। इस तरह एक-दूसरेसे घर-घर खबर पहुँच गयी। सब अनेक सवारियाँ सजा रहे हैं, इससे उनका उत्साह और परस्पर प्रेम और *'करइ सहस सहाइ'* का चरितार्थ दिखा रहे हैं। अपने ही लिये नहीं सजाते परंच औरोंके लिये भी कि जो चाहे सवार होकर चले। रातोंरात सवारियाँ सजीं कि पिछड़ न जायँ, यह बात *'हरषु हृदय परभात पयाना'* से जना दी है।

टिप्पणी २—*'भरत जाइ घर·····'* (क) सभाके आरम्भमें *'पठये बोलि भरत दोउ भाई'* कहा अब उनका घर जाना कहा। जब सभाके सब लोग चले गये तब ये दोनों भाई भी घर गये।

*** संपति सब रघुपति कै आही।···' ***

'भरतजीके चरित्रका तात्पर्य निकालना कुछ साधारण बात नहीं है। स्वयं स्वामीजी ही कह गये हैं कि कविजन भी भरतचरित्रमें चकित हुए हैं और हो रहे हैं। हमारी स्थूल दृष्टिको उसका तात्पर्य यही दीखता है कि मनुष्यमात्रको जो कुछ मिला है, वा मिलता जाता है, वह सब परमेश्वरका है। मनुष्यमात्र उसका केवल वहिवाटदार (ट्रस्टी) है। ऐसी भावना दृढ़ करना यही उसका आद्यकर्तव्य (पहिली श्रेणी) है। इस कर्तव्यताके करनेपर उसका सारा जीवनक्रम ही परमार्थ हो सकता है। मनुष्य ऐसी (ईश्वरसेवाकी) भावनाको जब भूल जाता है तब उसकी अहंममादि भावना बढ़ती जाती है। वही उसका प्रपञ्च कहलाता है, जिसके कारण उसका सारा ही जीवन दु:खमय हो जाता है। इ० इ०। इस प्रकार काँटेके तोलपर सदैव जाग्रत् रहनेवाला पात्र स्वामीजीके भरतजीके अतिरिक्त उनकी या अन्य किसी भी रामायणमें उपलब्ध नहीं है'—(मा० हं०) २०५ (१-५) भी देखिये।

श्रीभरतजीके गूढ़ चरितका मर्म प्रायः बहुतोंने नहीं पाया, इसके उदाहरणमें एक महात्मा (वाल्मी० २। ६१) के **'एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशाम्पते। भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमन्यते॥'** (१५) श्रीकौसल्याजीके इन वचनोंको प्रमाणमें देते हैं। यह वचन उन्होंने श्रीदशरथजीसे कहे हैं। वे कहती हैं कि इसका एक तो विश्वास ही क्या कि पन्द्रहवें वर्ष रामके लौटनेपर भरत राज्यको छोड़ देंगे और कदापि छोड़ भी दें तो छोटे भाईके भोग किये हुए राज्यका राम क्यों न तिरस्कार करेंगे। नरव्याघ्र राम दूसरेका भोगा हुआ राज्य स्वीकार न करेंगे।—पर वह स्मरण रखना चाहिये कि मानसकी श्रीकौसल्यादेवी और वाल्मी० की कौसल्या देवीमें धरती और आकाशका अन्तर है। मानसकी कौसल्याजी आदर्श माता और आदर्श धर्मपत्नी हैं।

अतः यह भी कहना कि 'इसीसे श्रीभरतजी राज्य एवं सम्पत्तिके स्वामी नहीं बने, यह भी कहाँतक संगत होगा पाठक स्वयं विचार कर लें। श्रीभरतजी आदर्श भ्राता, आदर्श राम-सेवक, आदर्श धर्मात्मा हैं। वे स्वाभाविक ही सब कुछ श्रीरामजीका जानते-मानते हैं और ऐसा ही समझकर वे कह रहे हैं—

'संपति''...।' मानसकी कौसल्याजी श्रीभरतका प्रेम जानती हैं। हाँ! निषादराज और उनके गुरु लक्ष्मणजी इनके साथ सेना आदि देखकर भुलावेमें पड़ गये और दोष भी दे डाला।

* 'पापसिरोमनि साँइ दोहाई' *

'दोहाई' का अर्थ जिनने सौगंद किया है उन्होंने अनर्थ किया है। यहाँ सौगंदका प्रयोजन भी नहीं, दूसरे अर्थ प्रसंगानुकूल संगत नहीं है। 'दोह' शब्द कई ठौर आया है। इसी प्रकार 'प्रेम' की ठौर *'पेम'* और *'प्रयाग'* की ठौर *'पयागा'* अनेक स्थलोंमें आया है। विनायकी और अन्य भी कुछ टीकाओंने *'पापसिरोमनि'* का अर्थ—'पापियोंमें शिरोमणि', ऐसा किया है; पर वह अर्थ ठीक नहीं; यहाँ 'पाप' पाठ है, 'पापि' पाठ नहीं है। 'पाप' का अर्थ पापी लिया है इसीसे *'दोहाई'* का अर्थ सौगंद किया है; क्योंकि उस समय यह अर्थ कुछ संगत हो जाता है। यहाँ भाव यह है कि यदि उसकी रक्षाका उपाय न कर दूँ और ऐसे ही छोड़कर चल दूँ तो मैं स्वामिद्रोही कहलाऊँगा जिससे बढ़कर पाप नहीं है। आगेके *'करइ स्वामिहित'* भी इसी अर्थका पोषक है।

नोट—*'करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ'*'.....' इति। यदि कोई कहे कि भरतजी ऊपरसे अपनी हृदयकी सफाई दिखानेके लिये श्रीरामजीके पास जाते या गये हैं, भीतरसे राज्यका लोभ है, नहीं तो सब राजसम्पत्ति आदिका बंदोबस्त क्यों करके जाते; तो उसपर कहते हैं कि सेवक वही है जो स्वामीका हित करे, चाहे कोई उसे अगणित दोष क्यों न लगावे—(रा० प्र०) ऐसा ही हनुमान्‌जीने रावणसे कहा है—*'मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥'* एक दूषण क्या करोड़ों भी दें तो भी उसपर ध्यान न दे। दूषण कि कहाँ तो अभी-अभी वैराग्य बकते थे और कहाँ अब सब बन्दोबस्त करते हैं। बड़े अचूक हैं, कब चूकनेवाले—(पु० रा० कु०) पर अवधवासियोंमें कोई ऐसी शंका करनेवाला नहीं है, आजकलके आलोचक ही भले कहें।

अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरमु न डोले॥६॥
कहि सबु मरमु धरमु भल भाषा। जो जेहि लायक सो तेहि* राखा॥७॥
करि सबु जतनु राखि रखवारे। राम मातु पहिं भरत सिधारे॥८॥
दो०—आरत जननी जानि सबु भरत सनेह सुजान।
कहेउ बनावन पालकी सजन सुखासन जान॥१८६॥

शब्दार्थ—**सुजान**=सुन्दर रीतिसे जाननेवाले, चतुर प्रवीण। **सनेह सुजान**=प्रीतिकी रीतिको भली प्रकार जाननेवाले। **आरत**=बेतरह चित्त लगा हुआ; दर्शनके लिये बड़ी उत्कट लालसा, आकुलता एवं उत्साहयुक्त। यथा—*'सखि हमरे अति आरति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥'* (१। २२२। ८)=दुःखी। यहाँ दोनों अर्थ हैं।

अर्थ—ऐसा विचारकर पवित्र (विश्वासपात्र) सेवकोंको बुलाया जो स्वप्नमें भी कभी अपने धर्मसे डिगे न थे॥६॥ श्रीभरतजीने सब मर्म कहकर धर्मका अच्छी तरह वर्णन किया और जो व्यक्ति जिस कार्यके योग्य था उसे उस कार्यमें नियुक्त किया॥७॥ सब यत्न करके, रक्षकोंको रखकर (नियुक्त या मुकर्रर करके) श्रीभरतजी श्रीकौसल्याजीके पास गये॥८॥ सब माताओंको श्रीरामजीके दर्शनके लिये आतुर (बेतरह चित्त लगा हुआ) एवं दुःखी जानकर प्रेममें सुजान श्रीभरतजीने पालकी सँवारने और सुखासन (तामदान, झंपान) और रथोंको सजानेको कहा॥१८६॥

नोट—१—*'सुचि सेवक'*—सेवकधर्मसे न चूकनेवाले, भरोसेवाले, विश्वासपात्र, निष्कपट। *'सुचि सेवक*

* राजापुर, रा० प्र०, रा० गु० द्वि०, और भा० दा० में यह पाठ है। अन्यमें 'तहँ'। जो सो, जेहि तेहिका जोड़ अच्छा है। दूसरा अर्थ—'जो जिस लायक था उसने उसको रखा अर्थात् उसकी रक्षाका भार लिया। (दीनजी)।

सब लिए हँकारी।' (१। २४०। ७)। देखिये। दूसरा चरण 'शुचि' की व्याख्या ही है। ***'मर्म धर्म'***—धर्म बतलाया कि स्वामीके हितमें अपना स्वार्थ भी बिगड़ जाय तो उसकी भी चिन्ता न करना चाहिये, स्वामी जिसमें सुख पावें, स्वामीका जिसमें भला हो वही करना सेवकका परम धर्म है। इत्यादि। यथा—***'स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू।'*** (२९३। ८) 'मर्म-शत्रु आ जायँ तो कैसे काम करना चाहिये, खजाना आदिका भेद और भी राज्य-सम्पत्तिकी रक्षाका गुह्य रहस्य।

नोट—२ ***'जो जेहि लायक सो तेहि राखा'*** अर्थात् जो नगरकी रक्षाके योग्य थे उनको नगरकी रक्षापर, घोड़ोंकी रक्षामें जो निपुण थे उनको घोड़ोंकी रक्षामें, इसी तरह हाथी, रथ, खजाना, महल इत्यादिकी रक्षामें जो जिसके योग्य था उसको उसीपर नियुक्त किया। (रा० प्र०)

गौड़जी—'दीन' जीका ही अन्वय समीचीन है। यहाँ ***'राखा'*** क्रियाके कर्त्ता ***'भरत'*** जी नहीं हैं। 'सो' कर्त्ता है। अन्वय इस प्रकार होगा ***'जो जेहि (राखन) लायक (रहा) सो तेहि राखा।'*** भरतको ***'राखा'*** का कर्त्ता मानना एक तो पद-विन्याससे असंगत है, दूसरे 'भरत' शब्दकी किसी प्रकारसे विवक्षा भी कर लें तो आगे ***'राखि रखवारे'*** में पुनरुक्ति हो जाती है। ***'तहँ राखा'*** पाठ लेनेमें भी यही दोष आता है। इसीलिये ***'तेहि'*** पाठ ही ठीक है। ***'तहँ'*** ठीक नहीं है।

नोट—३ ***'करि सब जतन''''*** अर्थात् जैसा ऊपर कह आये एवं और भी जो जहाँ काम करना था वह सब करके—जैसे खजानेके ताले देखे, फाटक आदिको मजबूत कराये, इत्यादि। (रा० प्र०)

नोट—४ ***'आरत जननी जानि सबु'*** इति। पतिके न रहनेसे भारी दुःख है। उनके न तो पति ही हैं, न पुत्र ही; इससे सभी आर्त्त हैं। सबपर दुःखका भार है। माता कौसल्याजी उपवाससे कृश भी हो गयी हैं। यथा—**'उपवासकृशा दीना भर्तृव्यसनकर्शिता:।'** (वाल्मी० २। ८७। ६) कौसल्याजीके आश्रित भरतजी चलना ही चाहते थे। इन सबका दुःख और उत्साह देख इन्हें भी साथ लिया। अथवा, सोचे कि हमने सबको सती होनेसे रोका और ये सब रामदर्शनाभिलाषासे ही सती होनेसे रुकीं; अतः सबसे चलनेको कहा और उनके लिये पालकी आदि सजानेको कहा।—(पं०) या, उन्हींसे कहा कि अपनी-अपनी पालकियाँ तैयार कराइये। (पु० रा० कु०) ***'सनेह सुजान'***—जानते हैं कि किसके साथ कैसा स्नेह करना चाहिये, प्रेमकी रीतिको जानते हैं। ***'सनेह सुजान'*** हैं। समझ गये कि ये सब राम-दर्शनके लिये उत्सुक हैं; अतः उनसे साथ चलनेके लिये निवेदन किया। और पीड़ित जानकर उनके लिये आरामकी सवारीका इन्तजाम कराया—यहाँ 'परिकराङ्कुर' अलङ्कार है। (वीर)।

चक्क चक्कि जिमि पुर नरनारी। चहत* प्रात उर आरत भारी॥ १॥
जागत सब निसि भएउ बिहाना। भरत बोलाए सचिव सुजाना॥ २॥
कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देब मुनि रामहिं राजू॥ ३॥
बेगि चलहु सुनि सचिव जोहारे। तुरत तुरग रथ नाग सँवारे॥ ४॥
अरुंधती अरु अगिनि समाऊ। रथ चढ़ि चले प्रथम मुनिराऊ॥ ५॥
बिप्रबृंद चढ़ि बाहन नाना। चले सकल तप तेज निधाना॥ ६॥
नगर लोग सब सजि सजि जाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना॥ ७॥
सिबिका सुभग न जाँहि बखानी। चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी॥ ८॥

दो०—सौंपि नगर सुचि सेवकनि सादर सकल† चलाइ।
सुमिरि रामसियचरन तब चले भरत दोउ भाइ॥ १८७॥

* लाला सीतारामजीने 'चलत' पाठ दिया है। पर यह पाठ और कहीं नहीं है।
† सबहि-भा० दा०।

शब्दार्थ—**अगिनि समाऊ**=अग्निहोत्रकी सब सामग्री। वेदोक्त मन्त्रोंसे अग्निमें आहुति देते हैं। यह क्रिया दो प्रकारकी कही गयी है—नित्य और नैमित्तिक वा काम्य। अग्न्याधानपूर्वक प्रतिदिन जीवनभर प्रातः-सायं अग्निमें घृतादिसे आहुति देना 'नित्य', और किसी नियत समयतक किसी नियत उद्देश्यसे इस विधानको करना 'काम्य' है। कुण्ड, पात्र, कुश, घृत, श्रुवा आदि जो-जो यज्ञके लिये जरूरी हैं वह सब सामान। पर श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी कहते हैं कि यहाँ 'दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्नि ये तीनों अग्नि और होमकी सामग्री' ही *'अगिनि समाऊ'* से अभिप्रेत हैं। कारण कि अग्नि समारोप करके फिर दम्पति तेरह दिनसे अधिक बाहर रह नहीं सकते। और यहाँ यह निश्चित नहीं है कि कितने दिन बाहर लग जायँ। चित्रकूटकी यात्रामें ऐसे बहुत लोग होंगे जो आहिताग्नि थे। एक श्रोत्रियके अग्निसे अग्नि लेकर दूसरा श्रोत्रिय अपना औपासन होम कर सकते हैं। अतः वसिष्ठजी ही अपने सब-के-सब अग्नि साथ लेकर चले। विनायकरावजी लिखते हैं कि अग्निहोत्रकी सामग्री साथ लेकर चलनेका कारण मनुस्मृतिमें यों दिया है—'**अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा। दर्शेन चार्द्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि॥**' (अ० ४ श्लो० २५) '**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥**' (अ० ३ श्लो० ३६) अर्थात् उदित होम करनेवाले, दिन और रात्रिके समय प्रथम तथा शेषमें सदा अग्निहोत्र यज्ञ करें। अमावसको दर्श और पूर्णमासीको पौर्णमास नाम यज्ञ करें। अग्निमें आहुति देनेसे वह सूर्यदेवको पहुँचती है, वही रस सूर्यसे वृष्टिरूप होकर गिरता है, वृष्टिसे अन्न होता और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है। '**समाऊ**'=समाजू, जैसे '**राऊ**'=राजू। '**निधान**'=आधार, खजाना, समुद्र, घर। '**चलाई**'=रवाना करके। '**अरुन्धती**'=ये वसिष्ठजीकी धर्मपत्नी और दक्ष प्रजापतिकी कन्या हैं।

अर्थ—चकवा-चकवी-जैसे नगरके स्त्री-पुरुष प्रातःकाल होनेकी कामना कर रहे हैं। हृदयमें बहुत आतुर हैं॥ १॥ सारी रात जागते सबेरा हो गया। श्रीभरतजीने चतुर मन्त्रियोंको बुलवाया॥ २॥ और, कहा कि 'सब तिलकका सामान ले लो, वनहीमें मुनि श्रीरामजीको राज्य देंगे॥ ३॥ शीघ्र चलो'; यह सुनकर मन्त्रियोंने प्रणाम किया, तुरत घोड़े, रथ और हाथी सजाये॥ ४॥ अरुन्धती और अग्निहोत्रकी सामग्रीसहित रथपर चढ़कर पहले मुनिराज वसिष्ठजी चले॥ ५॥ अनेक सवारियोंपर ब्राह्मणवृन्द चढ़कर चले। वे सभी तप और तेजके खजाना हैं॥ ६॥ नगरके सब लोगोंने रथों और सवारियोंको सज-सजकर चित्रकूटके लिये प्रस्थान किया (चले)॥ ७॥ सुन्दर पालकियोंपर, जो वर्णन नहीं की जा सकतीं, सब रानियाँ चढ़-चढ़कर चलती हुईं॥ ८॥ नगर विश्वासपात्र सेवकोंको सौंपकर, सबको आदरपूर्वक रवाना करके तब श्रीसीतारामजीके चरणोंका स्मरण करके भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई चले॥ १८७॥

नोट—१ *'चक्क चक्कि जिमि·····'* इति। (क) चकवा-चकवी दोनोंको रात्रिमें वियोग होनेसे व्याकुलता रहती है, वे कामना करते हैं कि कब सबेरा हो कि संयोग हो, वैसे ही रामदर्शनके लिये प्रस्थान करनेमें रात्रि बीचमें रुकावट हो रही है इससे सब बड़े उत्कण्ठित हैं; कब यह वियोगकी रात्रि मिटे, सबेरा हो, हम सब दर्शनको चलें। वियोगके कारण आर्त्त हैं। पुनः, (ख) चक्क-चक्किकी उपमासे दिखाया कि कैसा दुःख हृदयमें है। जैसा पतिको स्त्रीके और स्त्रीको पतिके वियोगसे होता है (पु० रा० कु०)।* सबेरा होनेके लिये सब ऐसे ही व्याकुल हैं।

नोट—२ *'कहेउ लेहु सब तिलक समाजू।·····'* इति। (क) यहाँ श्रीभरतजी तिलककी सब सामग्री

* मयङ्क—'चक्क-चकईकी उपमा इस कारण दी कि रातको दोनोंका वियोग होता है वैसे ही अवध-नर-नारी चलनेका साज सज रहे हैं, अतः रात्रिको वियोग रहा, सबेरे पन्थमें योग होगा। यदि वह भाव ठीक होता तो भोरे नर-नारी क्यों दुखित होते। अतएव यह भाव होगा कि चकई-रूपी नर-नारी प्रात होना चाहते हैं जिसमें राघवरूपी चकवाकका संयोग हो।'

साथ ले चलनेकी आज्ञा दे रहे हैं और चित्रकूटमें श्रीभरतजी गुरुकी आज्ञा लिखते हैं, यथा—'*देव देव अभिषेक हित गुरु अनुसासन पाइ। आनेउँ सब तीरथ सलिल तेहि कहँ काह रजाइ॥*' (३०७) अतएव वहाँके अनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये कि गुरुकी आज्ञा पाकर उन्होंने यहाँ आज्ञा दी है। (पु० रा० कु०) (ख) '*बनहिं देव*' वनमें राज्याभिषेक करेंगे, यह क्यों? इसलिये कि उत्तम कार्यमें देर न करना चाहिये, अयोध्याजीतक आनेभरका विलम्ब भी नहीं सहा जा सकता। पुनः, घरमें अमङ्गल हुआ, विघ्न हुआ, अतः अब वहीं वनमें देंगे। (रा० प्र०) पुनः भाव कि श्रीरामजीने मातासे कहा है कि '*पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।*' अतः गुरुजी काननमें ही उनका अभिषेक करें। वे अयोध्यासे तापस वेषसे वनको गये हैं तो अब राजसी ठाट-बाटसे घर लौटें। (वि० त्रि०) (ग) '*मुनि रामहिं राजू*' का भाव कि पिता उनको यौवराज्य दे चुके ही हैं,वे बड़े हैं, तिलकका सरजाम भी उन्हींके लिये हुआ, अतएव वही राजा होंगे। पिता नहीं हैं तो गुरु तो तैयार ही हैं, वे ही राजा बनावेंगे। (पं०, रा० प्र०)

नोट ३—'*अरुंधती अरु अगिनि समाऊ।*''''' 'से प्रवृत्तिके आचार्य्य होना जनाया। (पु० रा० कु०) काशिराजजी लिखते हैं कि ये मुनि लवकुश महाराजकी बहुत पीढ़ियोंतक रहकर तब संन्यासी हुए। (रा० प० प्र०)

नोट ४—'*चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना*' इति। चित्रकूटको प्रस्थान किया, यह कहकर जना दिया कि यह समाचार श्रीभरतजीको तथा पुरवासियोंको मिल चुका था कि श्रीरघुनाथजी चित्रकूटमें हैं। गीतावलीमें भी भरतजीके वचन हैं '*चित्रकूट चलिये सब मिलि*'''''*यों कहि भोर भरत गिरिबर को मारग बूझि गहा।*' (२-६४) इनसे यह स्पष्ट है कि यह समाचार सबको मिल चुका है। किससे मिला इसका पक्का प्रमाण नहीं मिला। यही जान पड़ता है कि निषादराजद्वारा यह समाचार अवधमें आया। वह जानता है कि प्रभु कहाँपर हैं, उसके दूत बराबर उसे खबर देते रहे हैं। चित्रकूटके लौटनेके पश्चात् भी निषादराजद्वारा समाचार मिलता रहा है। यथा—'*सुभ पत्रिका निषादराजकी आजु भरत पहँ आई। कुँवर सो कुसल छेम अलि तेहि पल कुलगुरु कहँ पहुँचाई॥ गुरु कृपालु संभ्रम पुर घर घर सादर सबहि सुनाई॥*' (गी० २।८९) इससे अनुमानित होता है कि श्रीवसिष्ठजीके यहाँ समाचार आया हो। अथवा उन्होंने दूत भेजकर शृङ्गवेरपुरसे समाचार मँगाया हो। निषादराज वह स्थान जानता था तभी तो उसने भरतजीसे कहा—'*नाथ देखिअहि बिटप बिसाला।*'''*ए तरु सरित समीप गोसाईं। रघुबर परन कुटी जहँ छाईं॥*' (२३७।२-८)

नोट ५—'*सौंपि नगर सुचि सेवकनि सादर सकल चलाइ।*''''' ' इति। (क) नगरको शुचि सेवकोंके सुपुर्द करके चले। यहाँ यात्राका क्रम दिखाते हैं। प्रथम गुरु चले, उनके पीछे तपस्वी, तेजस्वी ब्रह्मर्षि, फिर पुरवासी और उनके पीछे सब रानियोंकी सवारियाँ हैं। सबके पीछे भरतजी हैं। (ख) '*सुमिरि राम सिय चरन*' यह मंगलाचरण किया। (पु० रा० कु०) अपना कलंक मिटाना है। इससे चरणोंका स्मरण किया जिनकी रज-स्पर्शसे अहल्या पावन हुई। (वै०)

राम दरस बस सब नर नारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी॥ १॥
बन सियरामु समुझि मन माहीं। सानुज भरत पायादेहिं जाहीं॥ २॥
देखि सनेहु लोग अनुरागे। उतरि चले हय गय रथ त्यागे॥ ३॥
जाइ समीप राखि निज डोली। राममातु मृदु बानी बोली॥ ४॥
तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥ ५॥
तुम्हरे चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोक कृस नहिं मग जोगू॥ ६॥

शब्दार्थ—**बस**=वश, इच्छा, चाह, काबू।=हेतु, लिये—(रा० प्र० दीनजी)

अर्थ—श्रीराम-दर्शनकी चाहमें सब स्त्री-पुरुष ऐसे (आतुरतासे, झपटे)चले (जा रहे हैं) मानो (प्यासे)

हाथी-हथिनी जल देखकर (उसकी ओर लपके हुए तेजीसे) चले जा रहे हैं॥ १॥ श्रीसीतारामजी वनमें हैं (राजविभव छोड़े हुए हैं, हम सवारीपर चलें, यह उचित नहीं) यह मनमें समझ-विचारकर भरतजी भाईसहित पैदल ही जा रहे हैं॥ २॥ उनका प्रेम देखकर लोग अनुरागमें भर गये और घोड़े-हाथी और रथोंको त्यागकर (उनसे उतरकर) पैदल चलने लगे॥ ३॥ श्रीरामजीकी माता पास जाकर अपनी डोली भरतजीके समीप रखकर कोमल वाणीमें बोलीं॥ ४॥ बेटा! माता बलिहारी जाती है। तुम रथपर चढ़ो नहीं तो प्रिय और परिवार दुःखी होंगे॥ ५॥ तुम्हारे पैदल चलनेसे सब लोग पैरों चलेंगे, सब शोकसे दुर्बल हो गये हैं, रास्तेके योग्य नहीं हैं॥ ६॥

नोट—१ *'रामदरस बस'''''* इति। मिलान कीजिये वाल्मी० (२। ८३) के **'प्रयाताश्चार्यसंघाता रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम्। तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः॥' 'मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम्। कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम्॥'** (७-८) अर्थात् सज्जनोंका समूह श्रीरामलक्ष्मणको देखनेको चला। वे सब प्रसन्नतापूर्वक उन्हींके सम्बन्धकी बातें करते थे! मेघवत् श्यामवर्ण, महाबाहु, दृढ़व्रत और जगत्के शोकको दूर करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको हमलोग कब देखेंगे। उनका दर्शन पाते ही हमारे शोक दूर हो जायँगे। -ये सब भाव *'रामदरस बस'* से सूचित कर दिये।

टिप्पण—१ पु० रा० कु० *'जनु करि करिनि चले तकि बारी'* इति। (क) बारी=जल, =बगीचा, यथा—*'कानन बिचित्र बारी बिसाल। मंदाकिनि मालिनि सदा सींच'*—(विनय २३) दर्शनकी प्यास है इससे झपटते जाते हैं। हाथीका पेट भारी इसीसे उसे प्यास भी भारी, वैसे ही अवधवासियोंको भारी विरह है इससे दर्शनकी चाह तीव्र है। यहाँ पशुकी उत्प्रेक्षा करके यह भी जनाया कि इनके आचरण पशुके-से हैं, कुछ विचार नहीं कि हम चले तो हैं रामतीर्थको, राम-दर्शनको और चढ़े हैं सवारियोंपर। वनमें श्रीसीतारामजी वाहन, पात्र और वस्त्र आदिके बिना हैं, यह समझकर अनुजसहित भरतजी पयादा पा जा रहे हैं। किसीने उन्हें इसकी शिक्षा नहीं दी। वे अपने मनसे समझकर पैदल जाते हैं; इसीसे उन्हें मनुष्य लिखा, यह बात *'सानुज'* पदसे जना दी है। यहाँ *'पयादेहि जाहीं'* मनुष्यका आचरण दिखाया और वहाँ पशुका। (ख) *'सब नर नारी'* से पुरवासियोंसे तात्पर्य है। गुरु, माताओं आदिसे नहीं। गुरु और माताओंका सवारीपर चलना उचित है, श्रीराम इनके लड़के हैं, ये सब पूज्य हैं।

नोट २—*'देखि सनेह लोग अनुरागे'''''।'* इति। इनका स्नेह देखकर होश हुआ, उनको भी प्रेम हुआ। पुनः यह भी विचार हुआ होगा कि राज्यके मालिक पैदल और हम सवारीपर, यह अयोग्य है। अतएव वे भी उतर पड़े।

☞ महात्माके संगसे उत्तम बुद्धि उपजती है।

नोट ३—*'जाइ समीप राखि निज डोली'''''।'* इति। यहाँ बड़ा हलका शब्द कविने दिया है। पूर्व तो कहा कि *'सिबिका सुभग न जाहिं बखानी। चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी॥'* इसमें विरोधाभास है। इसका समाधान यों करते हैं कि—(क) उत्तम सवारी कहनेका समय नहीं है। (ख) बड़े लोग अपने लिये दीनताके वचनका प्रयोग करते हैं, यह उनकी बड़ाई है।—(पाँड़ेजी)। अथवा, शोकातुर होनेके कारण ये डोलीमें ही चलीं, नालकी या पालकी आदिपर नहीं चढ़ीं-(रा० प्र०) अथवा, शिविकाके लिये ही यहाँ डोली शब्द दिया। (ग) डोली रखने और बलिहारी होनेका भाव यह कि हम क्या व्याहने या गौने चली हैं जो हम डोलीमें चलें, हम भी पैदल ही चलेंगी। तुम सवारीपर चलो, जो दोष तुमको लगे वह सब मैं अपने सिर लेती हूँ। (पु० रा० कु०)

नोट ४ —*'सकल सोक कृस नहिं मग जोगू।'* अर्थात् पैदल चलना तो अच्छा ही है पर लोग चल न सकेंगे, बहुत समय लगेगा, सब लोग शीघ्र दर्शनके लिये आतुर हैं।

प० प० प्र०—श्रीकौसल्याजीके इन वचनोंसे उनका कैसा प्रजापर वात्सल्य और भरतपर प्रेम है यह दरसाया है। साथ ही यह भी दिखाया है कि श्रीराम-वियोगका अवधवासियोंपर क्या परिणाम हुआ। जो पूर्व *'तन कृस मन दुख बदन मलीने।'* (७६। ४) कहा था उसीको यहाँ स्पष्ट किया है।

सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई॥७॥
तमसा प्रथम दिवस करि बासू। दूसर गोमति तीर निवासू॥८॥
दो०—पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग।
करत रामहित नेम ब्रत परिहरि भूषन भोग॥१८८॥
सई तीर बसि चले बिहाने। शृंगबेरपुर सब निअराने॥१॥

शब्दार्थ—'असन' 'अहार'=भोजन। बिहान (सं० विभान)=प्रात:काल, सबेरे। सई=स्यंदिकाका अपभ्रंश है। यह रायबरेली होकर बेलाप्रतापगढ़के सामने बही है।

अर्थ—माता कौसल्याके वचनोंको शिरोधार्य (मान) कर और चरणोंमें माथा नवाकर दोनों भाई रथपर चढ़कर चलने लगे॥७॥ पहले दिन तमसा तटपर वास करके दूसरे दिन गोमतीतटपर निवास किया॥८॥ कोई तो दूध और कोई फलाहार करते हैं और कुछ लोग रात्रिमें ही एकबार भोजन करते हैं*। सब लोग भूषण और भोग-सुखको त्यागकर श्रीरामचन्द्रजीके लिये नेम और व्रत करते हैं॥१८८॥ रातभर सई नदीके किनारे वास करके सबेरे चल दिये और शृङ्गवेरपुरके समीप पहुँचे॥१॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'सिर धरि बचन'* ''''' इति। श्रीभरतजीने माताकी आज्ञा मानी। जैसे श्रीरामजी पिताकी आज्ञा मानकर शृङ्गवेरपुरतक रथपर गये वैसे ही ये भी वहाँतक रथपर चले। [भरतजीने माता कौसल्याका वचन शिरोधार्य किया। समझा कि वहाँतक श्रीरामजानकीजी और लक्ष्मणजी पैदल चले थे, वहाँतक हम भी पैदल चल चुके, इसके बाद पिताजीकी आज्ञासे सरकार रथपर ही शृङ्गवेरपुरतक गये हैं, यथा—*'तब सुमंत्र नृप बचन सुनाए। करि बिनती रथ राम चढ़ाए॥ चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदय अवधहिं सिर नाई॥'* अत: माताकी आज्ञासे वहाँतक हमारा भी रथपर जाना अनुचित नहीं है, अत: ये दोनों भाई भी रथपर चढ़कर चले। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी-२ *'तमसा प्रथम दिवस करि बासू'* ''''' इति। (क) श्रीरामजी दूसरे दिन शृङ्गवेरपुर गये और ये चौथे दिन पहुँचे। (कारण कि नगरभर साथ है)। (ख) चित्रकूटको जानेमें भरतजीकी शीघ्रता पूज्य कवि अपनी लेखनीद्वारा दिखाते हैं। चले क्रिया देकर, बीचमें अपूर्ण क्रियाएँ दी हैं। इससे जनाते हैं कि कहीं अच्छी तरह निवास नहीं किया। प्रथम दिन तमसापर बसकर, दूसरे दिन गोमतीपर ठहरकर फिर सईपर विश्राम करके चले—यहाँ प्रथम-प्रथम पूर्ण क्रियापर आकर रुके।

टिप्पणी-३ *'पय अहार फल असन एक'* ''''' इति। (१) जो कुछ भूख सहनेमें समर्थ हैं वे दूध पीकर रहते हैं,जो उनसे निर्बल हैं वे फलाहार करते हैं, जो इनसे भी निर्बल हैं वे रात्रिमें भोजन करते हैं। वा, (२) कोई दूध, कोई फल असन अर्थात् फलाहार करते हैं, पर 'एक', अर्थात् एक ही प्रकारका, एक ही जातिका फल पेटभर खाते हैं और कोई अन्न भोजन करते हैं पर एक ही अन्न। रातको अर्थात् पाँचवें पहर भोजन करते हैं। वा, कोई रातमें, कोई दिनमें पर एक ही बार। (पु० रा० कु०) वा, (३) कोई पयाहार, कोई फलाहार, वह भी रात्रिमें; एक बार भोजन करते हैं दिनमें कुछ नहीं। रामजीकी प्राप्ति-हेतु अन्न, भूषण, पात्र आदि सब भोगके सामान त्याग दिये। (वै०)

नोट १—रातमें भोजन करते हैं, इस विचारसे कि अब श्रीरामजी अवश्य भोजन कर चुके होंगे। ☞ स्मरण रहे कि पुरवासी *'नेम ब्रत'* तो वियोग होनेके बादसे ही करने लगे थे,यथा—*'राम दरस हित नेम ब्रत लगे करन नर नारि'*॥८६॥ अब केवल एक ही समय आहार कर रहे हैं। अथवा, पहले *'नेम ब्रत'* मात्र कहा था, अब उसको यहाँ स्पष्ट किया।

नोट २—'शृङ्गवेरपुर' का नाम यह क्यों पड़ा यह (८७। १) *'शृङ्गवेरपुर पहुँचे जाई।'* में लिखा जा चुका है। पु० रा० कु० कहते हैं कि सरहदपर पाषाणके मृग बने हैं, उनपर मृगोंके सींग लगे हैं जिसमें हिरन इन्हें देखकर आवें तो उनका शिकार किया जाय। अत: शृङ्गवेरपुर नाम पड़ा।

---

* बंदनपाठकजी—'नक्त चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तित:। चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिक:।' इति (मनुस्मृतौ। ६। १९) दिनमें एक बार भोजन करे वा दिनमें न करके रातमें करे वा एक दिन उपवास करके दूसरे दिन रातमें भोजन करे वा तीन दिन उपोषण करके चौथे दिन रातमें भोजन करे।

समाचार सब सुने निषादा। हृदयँ बिचार करै सबिषादा॥ २॥
कारन कवन भरतु बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं॥ ३॥
जौं पै जियँ न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई॥ ४॥
जानहिं सानुज रामहि मारी। करौं अकंटक राजु सुखारी॥ ५॥

शब्दार्थ—'**पै**'=निश्चय, अवश्य। '**जौं पै**'=निश्चय ही।=यदि। '**अकंटक**'=कंटक (काँटा) रहित, निर्विघ्न, बेखटकेका, बाधारहित, शुत्ररहित, निरुपाधि।

अर्थ—निषादराजने सब समाचार सुने तो दु:खपूर्ण हृदयसे विचार करने लगा॥ २॥ क्या कारण है कि भरतजी वनको जा रहे हैं ? मनमें कुछ कपट-भाव (अवश्य) है॥ ३॥ यदि मनमें कुटिलता न होती तो साथमें सेना क्यों ली है ?॥ ४॥ समझते हैं कि भाईसहित श्रीरामजीको मारकर सुखसे अकण्टक राज्य करूँ॥ ५॥

पु० रा० कु०—*'समाचार सब सुने निषादा।''''* इति। (क) निषादोंका राजा है तो भी अपने राज्यमें कैसा चौकस है कि उधर भरतजी समाजसहित पुरके निकट पहुँच रहे हैं और इसके दूतोंने इसे आकर खबर दे दी। (ख) *'सबिषादा'* यह शब्द आदिमें देकर सूचित कर दिया कि इसका विचार ठीक नहीं है। विषादमें विचार नहीं रहता, इसी तरह श्रीसीतारामजीको रोते देख *'भएउ प्रेमबस हृदय बिषादा'।* वहाँ भी उसके विचारोंको लक्ष्मणजीने ठीक किया था।

टिप्पणी-३ *'करौं अकंटक राजु'*—क्योंकि नीति है कि *'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'*

नोट—राजापुरका पाठ है—*'बिषाद करै सबिषादा।'* भा० दासजीने *'बिषाद'* पर हरताल देकर *'बिचार'* बनाया है। *'बिषाद'* पाठमें अर्थ यों करना होगा—'विषादयुक्त निषादने सब समाचार सुने तो वह हृदयमें विषाद करने लगा। श्रीरामवनगमनके कारण वह पूर्व ही विषादयुक्त हो चुका है।'

गौड़जी—*'बिषाद करै'* पाठ लेख प्रमाद है। *'बिचार करै'* ही होना चाहिये। *'बिषाद'* के साथ विवाद करना व्यर्थ है। राजापुरकी प्रतिमें लेख-प्रमादकी भरमार होनेसे भी उसका अन्य किसीका लिखा होना सिद्ध होता है।

भरत न राजनीति उर आनी। तब कलंकु अब जीवनु हानी॥ ६॥
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥ ७॥
का आचरजु भरतु अस करहीं। नहिं बिषबेलि अमिअ फल फरहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—'**जुझारा**' (सं० युद्धालु)=जूझ मरनेवाले, लड़ाका, सूरमा, वीर बाँकुरे। '**जुरहिं**=एकत्र या इकट्ठे हो जायँ, जुट जायँ, मिल जायँ।

अर्थ—भरतजी राजनीति मनमें नहीं लाये (राजनीतिपर ध्यान न दिया, विचार न किया), तब तो कलंक ही मात्र था और अब तो प्राण जायेंगे॥ ६॥ समस्त वीर-बाँकुरे देवता और असुर जुट जायँ तो भी श्रीरामजीको समरमें जीतनेवाला कोई नहीं है॥ ७॥ क्या आश्चर्य है जो भरत ऐसा कर रहे हैं? विषकी लता अमृतफल नहीं फलती अर्थात् विष ही फल फलती है॥ ८॥

वि० त्रि०—*'जौं पै जिय''''कटकाई'* इति। राजा लोग जहाँ जाते हैं, वहाँ कुछ अङ्गरक्षक तो साथ रहते ही हैं, पर पूरी सेना साथ नहीं रहती। पूरी सेनाके साथ प्रयाण तो युद्धके लिये ही होता है। इधर कोई शत्रु राजा भी नहीं है, जिससे युद्धके लिये सेनाकी आवश्यकता हो, रामलक्ष्मण विश्वविख्यात धनुर्धर हैं। यथा—*'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥'* इनसे युद्ध करनेकी कामनासे ही सेना सङ्ग लेनेकी आवश्यकता पड़ सकती है। दूसरा कारण है नहीं और कारण बिना कार्य नहीं होता। अत: भरतके मनमें कुटिलता है, इसमें संदेह नहीं मालूम होता।

पु० रा० कु०—'*भरत न राजनीति उर आनी।*'''' इति। '*मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति*', '*जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥*', इस राजनीतिपर विचार न करके राज्य ग्रहण किया। ऐसा करनेसे उनके नामपर धब्बा ही लगता और प्राण तो बचे रहते; पर अब ये लड़कर अपने राज्यको कण्टकरहित करनेके विचारसे चले हैं, इसमें प्राण जायेंगे। प्राण क्यों जायेंगे? इसका कारण देते हैं—'*सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर*''''॥ भाव यह है कि एक लक्ष्मणजी ही सबके लिये बहुत हैं, यथा—'*जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥*' (५। ४४। ७) '*जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई॥*' (६। ७४। १४) '*जौं सहाय कर संकर आई। तौ मारउँ रन रामदोहाई॥*' (२२९। ८) इनका रोष देखकर त्रैलोक्य काँप उठता था, युद्धमें कौन सामने आ सकता है, यथा—'*अति सरोष भाखे लखन लखि सुनि सपथ प्रमान। सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान॥*' (२३०) और श्रीरामजीका तो कहना ही क्या? (यही बात श्रीहनुमान्‌जीने रावणसे कही है। '**देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र गन्धर्वविद्याधरनागयक्षाः। रामस्य लोकत्रयनायकस्य स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे॥**' (वाल्मी० ५। ५१। ४३) '**ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥**' (४४) हे रावण! त्रिलोकीके स्वामी श्रीरामजीके सामने देवता, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, यक्ष (की कौन कहे), स्वयम्भू चतुरानन ब्रह्मा, त्रिपुरके नाशक त्रिनेत्र रुद्र, सुरनायक महेन्द्र इन्द्र सब मिलकर भी युद्धमें नहीं ठहर सकते। मानसमें भी कहा है—'*संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥*' (५। २३। ८) (वाल्मी० २। ८६) में गुहने (लक्ष्मणजीका कहा हुआ) भरतजीसे ऐसा ही कहा है—'**यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि॥**'(११)॥ अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीको युद्धमें देवता और असुर भी नहीं सह सकते।—वैसे ही यहाँ '*सकल सुरासुर*'''' कहा है)।

पंजाबीजी—उत्तम नीति यह थी कि यद्यपि राजाने कैकेयीके वशमें होकर राजनीति छोड़ इनको राज्य दिया तो भी ये न लेते। मध्यम नीति यह थी कि पिताका कहा करते। और कनिष्ठ यह थी कि जब रामजी लौटते तब जैसा होता देखा जाता। सो कोई नीति न विचारी। इतनी सेना लेकर साथ आये, इसपर कहते हैं कि ये क्या, सारे देवता दैत्य भी आ जायँ तो न जीतें (ये तो मनुष्य ही हैं)। यह अनुमान क्यों किया कि लड़ने आये हैं, इसपर कहते हैं '*का आचरज भरत अस करहीं।*' अर्थात् ये कैकेयीके पुत्र हैं जिसने श्रीरामजीको वन दिया तो ये युद्धके विचारसे चलें तो उचित ही है।*

र० ब० सिहजी—'*का आचरज भरत अस करहीं।*' इसमें दृष्टान्तालङ्कार है। निषाद कहता है कि भरतजी सेना लिये हुए असहाय श्रीरामचन्द्रजीसे लड़नेको जा रहे हैं सो ठीक है, क्योंकि बिषबेलिमें अमृत फल नहीं लगते। यह उदाहरण वैधर्म्य दृष्टान्तका है। यहाँ 'बिषबेलिमें विषहीके फल लगते हैं' ऐसा न कहकर बिषबेलिमें अमृत फल नहीं लगते ऐसा दृष्टान्त दिया है।'

दो०—अस बिचारु† गुह ग्याति सन कहेउ सजग सब होहु।
हथबाँसहु बोरहु तरनि कीजिअ घाटारोहु॥१८९॥

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरइ के ठाटा॥१॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥२॥
समरु मरनु पुनि सुरसरि तीरा। रामकाजु छनभंगु सरीरा॥३॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़े भाग असि पाइअ मीचू॥४॥

* १—बैजनाथजी यह अर्थ करते हैं—'भरतजीकी यह राजनीति—कि शत्रुको मारकर निश्चिन्त हो लें तब राज्य करें—नहीं मनमें लाये (वरन्) अपना काल ही मोल लिया।'

†राजापुर और काशिराजका यही पाठ है और पं० रा० गु० द्वि० का। भा० दा० में 'बिचारि' पाठ है।

शब्दार्थ—**ग्याति**=जातिके लोग। **सजग**=सचेत, सावधान। **हथबाँसहु-हथबाँस**=डाँड़, पतवार जो हाथमें लेकर खेते हैं। **तरनि**=नाव, घाटारोह (घट्टावरोध)=घाटका छेंकना—१९०(१) देखो। **सँजोइल**=सामग्रीयुक्त, सुसज्जित, अच्छी तरह सजा हुआ, यथा—*'सूर सँजोइल साजि सुबाजि सुसेल धरे बगमेल चले हैं। भारी भुजा भरि भारी शरीर बली बिजयी सब भाँति भले हैं॥'* **ठाटना**=सजना, प्रबन्ध करना, बँधान बाँधना। **ठाट**=सामान। **लोहा लेना**=लड़ना, युद्ध करना (मुहावरा है)। छनभंगु=क्षणभङ्गुर क्षणभरमें नष्ट होनेवाला।

अर्थ—गुहने ऐसा विचार जातिवालोंसे कहा और कहा कि सब लोग सावधान हो जाओ। डाँड़ पतवार और नावोंको डुबा दो और घाटोंकी राह छेंक दो* १८९। (लड़ाईके सामानसे) सुसज्जित होकर घाटोंको रोको, सब कोई मरनेका पूरा बँधान बाँध लो। अर्थात् लड़कर मरनेके लिये पूरे तैयार हो जाओ॥ १॥ मैं भरतके मुकाबिले होकर उनसे युद्ध करूँगा, जीतेजी गङ्गापार न होने दूँगा॥ २॥ (यदि कहो कि व्यर्थ जान क्यों देते हो तो उसपर कहता है कि इसमें बड़ा लाभ है) एक तो समरमें मरण, दूसरे गङ्गातटपर,(तीसरे) श्रीरामजीके कार्यमें (अर्थात् क्षणभङ्गुर शरीरसे रामकाज होगा) और शरीर तो क्षणभङ्गुर है ही (न जाने कब नष्ट हो जाय, इससे इसमें काम आना ही उत्तम है)॥ ३॥ (चौथे) श्रीभरतजी श्रीरामजीके भाई और राजा हैं और मैं नीच जन हूँ, (उनके हाथसे मरना) बड़े भाग्यसे ऐसी मृत्यु मिलती है। (सत्पुरुषके हाथसे मरनेसे मोक्ष होता है)॥ ४॥

पु० रा० कु०—*'ठाटहु सकल मरइ के ठाटा॥......'* इति। अर्थात् लड़ने-मरनेको तैयार हो जाओ। यहाँ अपने सुभटोंको लड़ाईके लिये उत्तेजित करनेमें तीन-चार उत्तरोत्तर अधिक उत्तम योग दिखाते हैं—समरमरण, गङ्गातट, श्रीरामकार्य और श्रीरामभ्राताके हाथ मृत्यु।

नोट—१ *'समर मरन पुनि सुरसरि तीरा'* इति। महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म अ० २९७ में इस सम्बन्धके श्लोक ये हैं—'**रणाजिरे यत्र शराग्निसंस्तरे नृपात्मजो घातमवाप्य दह्यते। प्रयाति लोकानमरैः सुदुर्लभान्निषेवते स्वर्गफलं यथासुखम्॥ (३) तुल्यादिह वधः श्रेयान्विशिष्टाच्चेति निश्चयः। निहीनात्कातराच्चैव कृपणाद् गर्हितो वधः॥ (६) पापात्पापसमाचारान्निहीनाच्च नराधिप। पाप एव वधः प्रोक्तो नरकायेति निश्चयः॥ (७) गृहस्थानां तु सर्वेषां विनाशमभिकांक्षताम्। निधनं शोभनं तात पुलिनेषु क्रियावताम्॥ (१०)॥ आपन्ने तूत्तरां काष्ठां सूर्ये यो निधनं व्रजेत्। नक्षत्रे च मुहूर्ते च पुण्ये राजन् सपुण्यकृत्॥ (२३) अयोजयित्वा क्लेशेन जनं प्लाव्य च दुष्कृतम्। मृत्युनात्मकृतेनेह कर्म कृत्वात्मशक्तिभिः॥ २४॥ विषमुद्बन्धनं दाहो दस्युहस्तात्तथा वधः। दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च प्राकृतो वध उच्यते॥ (२५)॥ ऊर्ध्वं भित्त्वा प्रतिष्ठन्ते प्राणाः पुण्यवतां नृप। मध्यतो मध्यपुण्यानामधो दुष्कृतकर्मणाम्॥ २७॥ दानं त्यागः शोभना मूर्तिरद्भ्यो भूतप्लाव्यं तपसा वै शरीरम्। सरस्वतीनैमिषपुष्करेषु ये चाप्यन्ये पुण्यदेशाः पृथिव्याम्॥ (३७)॥ गृहेषु येषामसवः पतन्ति तेषामथो निर्हरणं प्रशस्तम्। यानेन वै प्रापणं च श्मशाने शौचेन नूनं विधिना चैव दाहः। (३८)॥**' पराशरजी कहते हैं कि मरनेकी इच्छावाले गृहस्थोंके लिये तो यही मृत्यु सर्वोत्तम मानी गयी है जो किसी पवित्र नदीके तटपर शुभकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए प्राप्त हो। अपनेसे बड़े वीरके हाथसे मरना, धर्मात्माके हाथसे मरना उत्तम माना गया है, कौन मृत्यु उत्तम या कैसी है इसके विषयमें पराशरजीका वचन श्रीजनकप्रति है—(१) अपनेसे हीन कातर अथवा दीन पुरुषके हाथ होनेवाली मृत्यु निन्दित है क्योंकि पाप करनेवाले पापी और अधम श्रेणीके मनुष्यके हाथ जो वध होता

---

* नंगे परमहंसजी 'हथबाँसहु' का अर्थ डाड़ोंको घर ले चलो' ऐसा लिखा है। वीरकविजी अर्थ करते हैं—'डाँड़को पानीमें गाड़ दो और नावोंको अवघटमें घाटके ऊपर चढ़ा दो।' वे इस विचारसे यह अर्थ करते हैं कि इससे सहसा पार होनेका साधन नष्ट हो जायगा और नाव डुबोनेसे निकालना कठिन हो जाता है, इससे निषादराज नौकाओंको डुबानेके लिये नहीं कहता।

पर, जो श्रीरामजीके लिये प्राणोंको ही निछावर करनेको तैयार है वह नावके कठिनतासे निकलनेका विचार कब करेगा—'जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ।' 'जान' की बाजी है। मर जायगा तो नाव किस काम आवेगी; स्वामीका काम बढ़कर बने, जैसे हो तैसे—यह सच्चे प्रेमी और भक्तका लक्षण है।

है, वह पापरूपी ही माना जाता है तथा वह नरकमें गिरानेवाला है—यही शास्त्रका निश्चय है। (२) विष खा लेनेसे, गलेमें फाँसी लगा लेनेसे, आगमें जलनेसे, लुटेरोंके हाथसे तथा दाढ़वाले पशुओंके आघातसे जो वध होता है वह भी अधम श्रेणीका माना जाता है। पुण्य कर्मवाले मनुष्य इस तरहके उपायोंसे प्राण नहीं देते तथा ऐसे ही दूसरे-दूसरे अधम उपायोंसे भी उनकी मृत्यु नहीं होती।

सूर्यके उत्तरायण होनेपर उत्तम नक्षत्र तथा पवित्र मुहूर्तमें मरनेवालोंको पुण्यवान् समझना चाहिये। ब्रह्मरंध्रको भेदकर जिनके प्राण निकलते हैं वे पुण्यात्मा हैं। जो पाप और पुण्य दोनोंसे युक्त हैं उनके प्राण मध्यम द्वार (मुख, नेत्र आदि) से बाहर होते हैं और जिन्होंने केवल पाप ही किया है उनके प्राण अधोमार्ग (गुदा या शिश्न) से निकलते हैं। गृहस्थोंके लिये वही मृत्यु सर्वोत्तम है जो पवित्र नदीके तटपर शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए प्राप्त हो।

निषादराज तो गङ्गातटपर रहता है और व्यासजी तो गङ्गाका माहात्म्य कहते हुए बताते हैं कि '**क्रोशान्तरमृता ये च जाह्नव्या द्विजसत्तमाः। मानवा देवतास्सन्ति इतरे मानवा भुवि॥** प० पु० सृष्टि, अ० ६४। ७१।' गङ्गाजीसे एक कोसके भीतर जो मनुष्य मरते हैं वे देवता हैं, शेष सब मानव हैं।

नोट—२ श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्ने अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये उत्साहित करते हुए कहा है कि मरोगे तो स्वर्ग होगा, जीतोगे तो पृथ्वीको भोगोगे, अतएव युद्ध करो। शरीरधारी नित्य आत्माके कर्मानुसार प्राप्त शरीर क्षणभङ्गुर हैं। आत्मा अप्रेमय और अविनाशी है। अतः युद्ध करो। '**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥**' (२। ३७) '**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥**' (२। १८) मनुजी भी कहते हैं '**आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः। युद्ध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥**' (मनु० ७। ८९) अर्थात् राजा लोग रणमें परस्पर मारनेका इच्छा करनेवाले अपनी शक्तिभर सम्मुख युद्ध करके स्वर्गको जाते हैं पुनः, यथा पञ्चतन्त्रे—'**होमार्थैर्विधिवत्प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दार्चनैः यज्ञैर्भूरि सुदक्षिणैः सुविहितैः सम्प्राप्यते यत्फलम्। सत्तीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यैः कृतैः पुंभिस्तत् फलमाहवे विनिहतैः संप्राप्यते तत्क्षणात्॥**' (१। २५६) अर्थात् दान, होम, विप्रपूजा, बड़े यज्ञके करने, तीर्थवास, चान्द्रायणव्रत आदिका फल, समर-सम्मुख मरनेसे तत्काल प्राप्त होता है। गङ्गातटपर शरीर छूटनेसे मुक्ति होती है। यथा—'**गङ्गायां त्यजतो देहं भूयो जन्म न विद्यते।** 'इति पाद्ये'। (वै०) और सत्पुरुषोंद्वारा मृत्यु होनेसे भी मनुष्य तर जाता है। यथा—'**सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति**' (उत्तररामचरित)

नोट—३ '*जन नीचू*' अर्थात् मैं दास हूँ और जातिसे नीच हूँ। '**मरनेका ठाट**' रचनेको कहा, क्योंकि जीतना असम्भव है।

स्वामिकाज करिहहु *रन रारी। जस धवलिहउ भुवन दसचारी॥५॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥६॥
साधु समाज न जाकर लेखा। रामभगत महुँ जासु न रेखा॥७॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू। जननी जौबन बिटप कुठारू॥८॥
दो०—बिगत बिषाद निषादपति सबहि बढ़ाइ उछाहु।
सुमिरि राम माँगेउ तुरत तरकस धनुष सनाहु॥१९०॥

शब्दार्थ—**धवलिहउ**=धवल (उज्ज्वल) करूँगा। **धवलना**=निखारना, चमकाना, प्रकाशित या निर्मल करना। *जस धवलिहउँ*=यशकी चूनाकारी कराऊँगा, यश विस्तारूँगा—(दीनजी)। **निहोर**=अनुग्रह, एहसान, कृतज्ञता,

* राजापुर और काशिराजका यही पाठ है। निषादराज योधाओंका उत्साह बढ़ा रहा है। अतएव उपर्युक्त वचनोंके साथ भी ये जाते हैं। साथ ही अपने लिये भी वही बात है। पाठान्तर—'करिहउँ, धवलिहउँ।'

उपकारके लिये।=कारणसे, यथा—*'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरेउँ देह नहिं आन निहोरे॥'*=के लिये, निमित्त, यथा—*'तुम बसीठ राजाकी ओरा। साख होहु यहि भीख निहोरा'*—(जायसी)। *'मुद मोदक'* आनन्दके लड्डू। 'दोनों हाथोंमें लड्डू' यह मुहावरा है। दोनों प्रकारसे भलाई है; इस लोक और परलोक दोनोंमें। इस मुहावरेका प्रयोग लोक-परलोक दोनों सध जानेके समय किया जाता है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार हुई है कि जब कोई सौभाग्यवती स्त्रीकी मृत्यु होती है तब श्मशानको ले जाते समय उसके दोनों हाथोंमें लड्डू दे दिये जाते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि इसने इस लोकमें भी पतिकी सेवा करके आनन्द भोग किया और पतिके सम्मुख ही इहलोक छोड़ परलोक चल बसी, इसलिये परलोक भी बन गया। गुह सोचता है कि भरतको परास्त किया तो यश और मारा गया तो भी यश (दीनजी)। **सनाहु**=शरीरत्राण, जिराबख्तर। रेखा=चिह्न, गणना शुमार, लकीर, स्थान।=लेखा।

अर्थ—स्वामीके कामके लिये रणमें लड़ाई करोगे (एवं मैं करूँगा), चौदहों लोकोंको यशसे प्रकाशित करोगे (एवं मैं करूँगा) अर्थात् उनमें निर्मल यश फैलाओगे (वा फैलाऊँगा)॥ ५॥ श्रीरघुनाथजीके निमित्त प्राणोंको दे दूँगा (देने जा रहा हूँ), मेरे दोनों हाथोंमें आनन्दके लड्डू हैं। (अर्थात् जय और पराजय दोनोंमें आनन्द है, वाहवाह होगी)॥ ६॥ जिसकी साधु-समाजमें गिनती नहीं, न रामभक्तोंमें ही जिसका स्थान (गणना) है, वह संसारमें व्यर्थ ही जीता है, वह पृथ्वीके लिये भार है और माताके यौवनरूपी वृक्षको काटनेके लिये कुल्हाड़ीरूप है (अर्थात् उसके जन्मसे उसकी माताका यौवन व्यर्थ नष्ट हुआ)॥ ७-८॥ विषादरहित हो निषादराजने सबका उत्साह बढ़ाकर श्रीरामजीको स्मरणकर तुरंत तरकश, धनुष और कवच माँगा। (लानेको कहा)॥ १९०॥

नोट—१ *'स्वामिकाज'*······ इति। भाव कि *'परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'* (१। ८४। २) और यह मरण तो प्रभुके निमित्त होगा; अतः चौदहों लोकोंमें हम सबकी प्रशंसा अवश्य होगी। हमारी संतोमें गणना हो जायेगी।

नोट-२—*'दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे।'*····*'रेखा'* इति। निषादराज भरतजीसे युद्ध करके जयलाभका ध्यान भी मनमें नहीं लाते, युद्धमें अपनी मृत्युको ध्रुव मानते हुए ही विचर करते हैं, यथा—*'जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ। समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। बड़े भाग अस पाइअ मीचू'* इत्यादि और ऐसी मृत्युसे अपने दोनों हाथोंमें मुदमोदक मानते हैं। एक यह कि साधु-समाजमें मेरी लेखा हो जायेगी, यथा—*'परहित लागि तजहिं जे देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'* और दूसरे यह कि रामभक्तोंमें मेरी रेखा हो जायगी, मैं तदीय हो जाऊँगा। *'तजहुँ प्रान रघुनाथ निहोरे',* रामजीके लिये प्राण त्याग करनेसे रामजीको भी मुझे अपना मानना पड़ेगा। यथा—*'सुनु सुरेस कपि भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे। मम हित लागि तजे इन्ह प्राना।'* इत्यादि (तथा *'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।' 'भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥'* (७।८।८) और मेरा जीवन सफल हो जायगा। (वि० त्रि०)

पु० रा० कु०—*'साधु समाज न जाकर लेखा।'*···· इति।-जो पराया काज साधे सो साधु; **साध्नोति परकार्यमिति साधुः** यथा—*'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'* (७। १२१। १४) साधुमें जिसकी गणना नहीं उसका जीवन व्यर्थ है, अतएव इस कार्यको करके साधुकी गिनतीमें आवेंगे।

नोट—३ *'जननी जौबन बिटप कुठारू'* अर्थात् उसने माताकी जवानी (युवावस्था) नष्ट कर दी। बालक उत्पन्न होनेसे यौवन उतर जाता है। यदि पुत्र भगवद्भक्त पैदा हुआ तो वह माताके यशको बढ़ाता है जिससे यौवनकी पूर्ति हो जाती है। श्रीसुमित्रा अम्बाजीके वचनसे मिलान कीजिये—*'पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥ नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। रामबिमुख सुत तें हित जानी॥'* (७५। १-२) यहाँ 'द्वितीय विनोक्ति' और 'परम्परित रूपक' अलङ्कार है।

मा० हं०, वन्दनपाठकजी—जान पड़ता है कि इसमें (गुहका अपने सैनिकोंको प्रोत्साहन) भर्तृहरिजीके वैराग्यशतकके निम्नगत श्लोककी पारमार्थिक कल्पनाकी छटा ली गयी है और अपनी कल्पनासे कविने

कुछ मिश्रण किया है—श्लोक—'**न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुधर्मोऽपि नोपार्जितः।'''''मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम्**॥' (अर्थात् हम लोगोंने संसारसे पार होनेके लिये ईश्वरका ध्यान नहीं किया अथवा जिससे स्वर्गकी प्राप्ति हो ऐसा धर्म भी नहीं किया इसलिये हमलोग माताके यौवनरूपी वनका नाश करनेवाली कुल्हाड़ी हो गये हैं। यह वर्णन अत्यन्त राम-प्रेमपुष्ट और वीररसोद्दीपक हुआ है। स्वयं सैनिक तथा देशकी अगुआ मण्डली (किं बहुना सभी हिंदी जनता) इस वर्णनके विषयकी उपयुक्तताका विचार कर सकती है।

नोट—४—'*बिगत बिषाद निषादपति*''''' ' इति। (क) पहले 'सविषाद' था, यथा—'*हृदयँ बिचार करै सबिषादा*', अब (जब ऐसे विचार मनमें आकर उसने लड़नेका निश्चय कर लिया तब उसका मन शान्त हुआ) विषादरहित हुआ। (पु० रा० कु०) '*सुमिरि राम*' यह गुहका मङ्गलाचरण है। श्रीरामजीका स्मरण किया जिसमें युद्धमें पूरा पड़े—(रा० प्र०) (ख) यहाँ विषाद सञ्चारी भावकी शान्ति युद्धानुरागरूपी उत्साहके अङ्गसे हुई, यह समाहित अलङ्कार है—(वीर)। (ग) पहले स्वयं तैयार हुआ जिसमें सब तैयार हो जायँ।

बेगहु भाइहु सजहु सँजोऊ। सुनि रजाइ कदराइ न कोऊ॥ १॥
भलेंहि नाथ सब कहहिं सहरषा। एकहि एक बढ़ावइ करषा॥ २॥
चले निषाद जोहारि जोहारी। सूर सकल रन रूचै रारी॥ ३॥
सुमिरि राम पद पंकज पनहीं। भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनहीं॥ ४॥
अँगरी पहिरि कूँडि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं॥ ५॥
एक कुसल अति ओड़न खाँड़ें। कूदहिं गगन मनहुँ छिति छाँड़ें॥ ६॥
निज निज साजु समाजु बनाई। गुह राउतहिं जोहारे जाई॥ ७॥

शब्दार्थ—'**सँजोऊ**'=सामग्री, सामान, साज। करषा (कर्षण)=क्रोध, उत्साह, हौसला, जोश। '**रूचै**'=रुचिकर है, अच्छी लगती है। '**अँगरी**'=कवच, जिराबख्तर-(अङ्ग-रक्षक)। '**कूँड़ि**'—लोहेकी ऊँची टोपी सिर बचानेके लिये पहनी जाती थी उसे 'कूँड़' कहते हैं। 'फरसा' (परशु) पैनी और चौड़े धारकी एक प्रकारकी कुल्हाड़ी, जैसे परशुरामजीका। '**बाँस**'=भाला, बल्लम। '**सेल**'=बरछा। 'ओड़न' (सं० ओणन=हटाना। हिं० ओट)=वार रोकने वा आड़ करनेकी वस्तु, ढाल,फरी। '**खाँड़े**'=खड्ग, तलवार। '**सम करहीं**'=ठीक करते वा सुधारते हैं अर्थात् लकड़ीको सीधा करते, धारको पैनी करते इत्यादि। **राउत** (रावत)=राजा।=वीर।

अर्थ—हे भाइयो! शीघ्र ही सब सामग्री सजाओ, हमारी आज्ञा सुनकर कोई कायरता न मनमें लावे॥ १॥ सब हर्षपूर्वक कहते हैं—'बहुत अच्छा सरकार!' और परस्पर एक-दूसरेका उत्साह और जोश बढ़ाते हैं॥ २॥ निषादराजको प्रणाम कर-करके (सब) निषाद (अस्त्र-शस्त्र लेनेको) चले। सभी रणमें वीर हैं, सभीको संग्राममें लड़ना ही अच्छा लगता है॥ ३॥ श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंकी जूतियोंका स्मरण करके उन्होंने तरकश बाँधकर अपने छोटे-छोटे धनुषोंको चढ़ाया अर्थात् उनपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी॥ ४॥ कवच पहनकर सिरपर लोहेके टोप धारण करते हैं, फरसों, बाँसों, बरछोंको सीधा करते वा सुधारते हैं॥ ५॥ कोई तो ढाल-तलवार (की कला) में अत्यन्त निपुण हैं। (ऐसे उत्साहसे भरे हैं) मानो पृथ्वी छोड़ आकाशमें उछल रहे हैं॥ ६॥ अपना-अपना साज-समाज (लड़ाईका सामान और अपनी टोली) बनाकर सबने गुह राउतको अर्थात् निषादराजको जाकर प्रणाम किया॥ ७॥

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'*बेगहु भाइहु*''''*कोऊ*' इति। निषादराजकी सेना उनके भाई लोग हैं, उन्हींको निषादराज शीघ्रताके लिये कह रहे हैं कि कहीं ऐसा न हो कि हम लोग तैयारी करते ही रह जाँय तबतक भरतकी सेना आकर घाटपर कब्जा कर ले और हमारी ही नौकाओंको लेकर गङ्गापार चली जाय तब तो बिना चाहे भी हमारी भरतके सहायकोंमें गिनती हो जायगी, अतः एक क्षण खोने लायक नहीं

है। दूसरी बात यह है कि मेरी बात सुनकर कोई कादरपनको मनमें स्थान न दे। जिस युद्धमें जूझ जाना ही ध्रुव है, जयकी आशा ही नहीं, ऐसे युद्धसे विरत होनेके लिये यथेष्ट कारण है, परन्तु जैसी मृत्यु होनेवाली है, वैसी बड़े भाग्यसे होती है। यह शरीर तो एक दिन छूटेगा ही, इस समय कीर्तिमयी शरीरके अमर करनेका अवसर है, यथा *'जस धवलिहौं भुवन दस चारी।'* अतः किसीको कदराना उचित नहीं है।

नोट—१ (क) *'बढ़ावहिं करषा',* जैसे—आज देखें कौन स्वामीका नमक अदा करता है। जन्मभर इनका नमक खाया है, देखें कौन मर्दाना है, हम अकेले ही यह कर डालेंगे, इत्यादि (ख) *'सम करहीं'*=सीधा या बराबर करते हैं। फरसाकी धार सीधी करते हैं; भाले, बर्छे या साँगके बाँसकी टेढ़ाई निकालते हैं।

* सुमिरि रामपद पंकज पनहीं *

रा० ब० सिंह-१ निषाद श्रीरामचन्द्रजीके बड़े भक्त थे। इसमें प्रमाण यही है कि उन्होंने श्रीभरतजीसे लड़नेके लिये श्रीरामचन्द्रजीकी पनहीका स्मरण किया। पनहीके स्मरण करनेका कारण यही है कि वे निषादलोग अपनी नीचातिनीचता प्रकट करते हैं और दैन्यभावसे ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसके भी उदाहरणस्वरूप निषाद, शबरी, गृद्ध और कोल-किरात आदि हैं। आजकल भी जो भक्त अपनी नीचता या दीनता बड़े लोगोंके सामने दिखाते हैं, उसमें भी वे 'हम आपके पायनकी पनही हैं' यही कहते हैं। निषादोंका दैन्यभाव अत्युच्च कोटिका था जो वे स्वयं पनहीं बनते थे वरन् पनहीको अपना इष्टदेव समझते थे, और उसीपर उनकी सफलता निर्भर थी। २—दूसरा भाव यह है कि सब हथियारोंका वर्णन तो है कि वे सब उनके पास थे; परंतु ढाल चामकी होती है और पनही भी चामकी होती है; इससे उन्होंने श्रीरामचन्द्रकी पनहीको ढाल बनाया। कारण कि वार ढालहीपर रोका जाता है, और उन्होंने समझा कि हमारे पास जो फरसा, बाँस और कूँड़ि आदि हथियार हैं इससे हम क्या कर सकते हैं। हमको अपनी ओड़नेकी चीज ढाल ही पोढ़ी चाहिये। इसी कारण उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीकी पनहींको ढाल बनाया, और इसीसे अपना विजयलक्षण प्रकट किया।—(रा० प्र० में यही भाव दिया है)। ३-स्वामीके अनुसार ही सेवक काम करते हैं। निषादके स्वामी तो श्रीरामचन्द्रजी ही हैं। उन्होंने भी तो रावणसे लड़नेके समय विभीषणसे धर्ममय रथका वर्णन किया है, और अन्तमें कह दिया है कि *'कवच अभेद बिप्रपद पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥'* श्रीरामचन्द्रजी महाराज-कुमार थे, वे सब बातोंमें चतुर महापण्डित थे; इससे उन्होंने विजयरथका साङ्गरूपक कहा है। निषाद शूद्र महामूर्ख था, इससे वह पूर्ण वर्णन नहीं कर सका परंतु ढाल तो उसने बहुत ही दृढ़ धारण की थी। ४—निषाद भरतजीसे लड़ने चला। यह युद्ध योग्य था। क्योंकि श्रीभरतजीने भी तो कहा था *'मोरे सरन रामहिकी पनहीं॥'* (२३४-२) और निषादोंके विषयमें भी कविने यही कहा *'सुमिरि रामपद पंकज पनहीं'।*

पाण्डेजी—दूसरा भाव इसमें यह भी हो सकता है कि उस 'पद' का जो 'पन' ही है उसीको स्मरण किया कि नीचकी आप सदैव सहायता करते आये हैं, हमारी भी सहायता करेंगे। यथा—*'पन हमार सेवक हितकारी' 'गरीब निवाज'।*

पु० रा० कु०-१ यह निषादोंका मङ्गलाचरण है। श्रीरामचरणारविन्दके अधिकारी ब्रह्मा-शिव आदि हैं, यथा—*'शिव अज पूज्य चरन रघुराई।'* (७-१२४-३) अतः उनके चरणका अधिकारी अपनेको नहीं समझता। इससे पनहीं सुमिरीं।

प० प० प्र०—१ *'अँगरी पहिरि.....'* इति। कोई-कोई समालोचक यहाँ 'अँगरी' के प्रयोगमें शब्दगत 'अप्रयुक्त' दोष कहते हैं। पर वे भूल जाते हैं कि मानस नाट्य महाकाव्य है। नाटकमें जिस प्रकारका पात्र हो उसी प्रकारकी भाषाका प्रयोग दोष नहीं, प्रत्युत काव्य-सौन्दर्य है। यहाँ निषादोंका प्रसंग है, अतः निषादोंकी भाषाके ही अनेक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। यह स्वभावोक्ति अलङ्कार है। गोस्वामीजी निषादोंकी भाषासे कैसे सुपरिचित थे यह भी यहाँ दृष्टिगोचर हो रहा है।

२ मन्थराकी शब्दकला, श्रीभरतजीके भाषण और निषादराजके इस प्रसंगमें तीन रसोंकी निर्मित भी परमोच्च और परम श्रेष्ठ है।

देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सनमाने॥८॥

दो०—भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि।

सुनि सरोष बोले सुभट बीरु अधीरु न होहि॥१९१॥

रामप्रताप नाथ बल तोरें। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरें॥१॥

जीवत पाउ न पाछें धरहीं। रुंड मुंड मय मेदिनि करहीं॥२॥

शब्दार्थ—धोखा लाना या लगाना=चूक, कसर, त्रुटि या कमी करना—यह मुहावरा है। इसका प्रयोग प्रायः निषेधवाक्य या काकुसे प्रश्नमें ही होता है। **सरोष**=रोषपूर्वक, दर्प, अभिमान, गौरव वा उत्साहपूर्वक, कुपित। **रुंड**=बिना सिरका धड़, बिना हाथ-पैरका शरीर। **मुंड**=सिर, खोपड़ी, गर्दनसे ऊपरका सब भाग। मेदिनी-मधु-कैटभके मेद-मज्जासे बनी होनेसे पृथ्वीका यह नाम पड़ा।

अर्थ—सब सुन्दर योद्धाओंको देखकर उन सबको युद्धके योग्य जानकर निषादराजने सबका नाम ले-लेकर सबका सम्मान किया॥८॥ (और कहा कि) हे भाइयो! धोखा न लगाना, कसर न रखना, आज मेरा बड़ा काम है। यह सुनकर वीर योद्धा उत्साह और रोषसहित बोले—हे वीर! अधीर न हो (धीरज धरो)॥१९१॥ हे नाथ! श्रीरामजीके प्रतापसे और आपके बलसे हम सेनाको बिना योद्धा और बिना घोड़ेका कर देंगे अर्थात् सबको मार गिरायें या भगायेंगे, एक भी न बचेगा॥१॥ जीतेजी हम पैर पीछे न हटावेंगे। पृथ्वीको रुण्ड-मुण्डमय कर देंगे अर्थात् सबके सिर और धड़ ही समरभूमिमें पड़े दिखायी देंगे॥२॥

नोट—१ *'लै लै नाम सकल सनमाने'।* इससे जान पड़ता है कि सेनापति और सेना बहुत थोड़ी थी; नहीं तो सबका नाम ले-लेकर सम्मान करनेका मौका कहाँ? पुनः, सबका नाम लेनेसे अधिक आदर सूचित होता है, सबका अधिक उत्साह बढ़ता है। आगे *'भाइहु'* सम्बोधन है—यह भी सम्मानका द्योतक है (ये सब इसके जातिके ही हैं। इससे भी भाई कहा)।

☞ राजाका आदर्श—राजाके लिये उत्साहित करना, उत्तेजना देना, आदर-मान करना, अच्छी सेवापर शाबाशी देना, कृतज्ञता प्रकट करना जरूरी है। वही यहाँ देख लीजिये निषादपतिको सन्देह होता है कि भरतजी युद्ध करने न जाते हों। वह तुरंत मार्ग रोकनेका विचार प्रकट करता है। उसके सरदार तैयार होते हैं—*'देखि सुभट सब लायक जाने'''''।'* इस उत्तेजना और सम्मानका कैसा अच्छा प्रभाव पड़ता है—*'सुनि सरोष बोले'।* (तुलसीग्रन्थावली)

नोट—२ *'लावहु धोख जनि आजु'''''।'* (क) अर्थात् फिर ऐसा मौका न हाथ लगेगा; इसलिये कुछ कसर न रख छोड़ना, उठा न रखना। (ख) बड़ा काम है, सेर-सुमेरका मुकाबला है, स्वामीका काम है। (ग) *'बीर अधीर न होहि'* अर्थात् तुम वीर हो, तुमको तो यह कहना चाहिये था कि तुम लोग देखोगे कि हम अकेले ही सारी फौजको नष्ट कर देंगे, भरतजीको जीतकर कैद कर लेंगे, ऐसा न कहकर आप कायरताके वचन कह रहे हैं—(रा० प्र०)।

नोट—३ (क) *'रामप्रताप'* अर्थात् उनके स्मरणमात्रसे रिपुका हृदय विदीर्ण हो जायगा। पाँड़ेजी एक अर्थ यह भी करते हैं कि 'रामप्रताप ही आपका सहायकारक कटक है, वह भरतके कटकको बिना भट और बिना घोड़ेका कर देगा।' (ख) *'बिनु घोरे'* इति।—सेनामें घोड़े-हाथी सभी हैं। यहाँ घोड़ा उपलक्षण है, समस्त वाहनोंसे तात्पर्य है। चतुरंगिणी सेनामें प्रायः घुड़सवार ही आगे रहते हैं इससे उन्हींका नाम दिया।

नोट—४ *'रुंड मुंडमय मेदिनि करहीं'*—यहाँ रुण्ड-मुण्डमयके साथ मेदिनी बड़ा ही उपयुक्त है। विष्णु भगवान्‌ने आदि सृष्टिके समय मधु-कैटभ दैत्योंको मारा था। उनके मांस-चर्बी आदिसे ही पृथ्वी बनी। अतएव उसका नाम मेदिनी पड़ा; योद्धाओंके कहनेका तात्पर्य यह जनाया कि हम आज इस पृथ्वीके नामको सार्थक कर देंगे, उसका पूर्वरूप जो था वही आज सबको देख पड़ेगा। अर्थात् कहीं भी सिवाय रुण्ड-मुण्ड, मज्जा-मांस आदिके मिट्टी तो दिखायी ही न पड़ेगी। भरतजीकी सेनाका कोई योधा आज जीता न देख पड़ेगा।

दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू॥ ३॥
एतना कहत छींक भइ बाएँ। कहेउ सगुनिअन्ह खेत सुहाएँ॥ ४॥
बूढ़ु एकु कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिअ न होइहि रारी॥ ५॥
रामहि भरतु मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रहु नाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—टोली, **टोलू**=समूह, झुण्ड, जत्था, मण्डली, गोल, समाज, गुट्ट। **जुझाऊ**=लड़ाईके मारू रागवाले। **खेत** (क्षेत्र)=रणक्षेत्र, समरभूमि, यथा—*'हतौं न खेत खेलाइ खेलाई।'* (६। २४। ११)।=मैदान। पुन: **खेत सुहाए**=क्षेत्र सुन्दर है, सुन्दर दिशामें छींक हुई है। **बिग्रह**=लड़ाई, झगड़ा, विरोध।

अर्थ—निषादराजने देखा कि अपना जत्था अच्छा है। (तब) कहा कि लड़ाईका सूचक (उत्तेजक) ढोल बजाओ॥ ३॥ इतना कहते ही बायीं ओर छींक हुई। शकुन विचारनेवालोंने कहा कि 'खेत सुन्दर' है (जीत होगी)॥ ४॥ एक बुड्ढेने सगुन विचारकर कहा कि 'भरतसे मिलाप होगा, उनसे मिलिये, लड़ाई न होगी॥ ५॥ 'भरतजी श्रीरामजीको मनाने जाते हैं'—सगुन ऐसा कह रहा है कि विरोध नहीं है, लड़ाई-झगड़ा न होगा॥ ६॥

पाँड़ेजी—*'कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू'* इति। कविने केवटोंका समाज समझकर उसके अनुकूल 'ढोल' शब्द दिया। राम-रावण-युद्धमें 'बाजा', 'निशान' आदि शब्द आये हैं, यथा—*'बाजे सकल जुझाऊ बाजा'* (६।७७) *'कहेसि बजावहु जुद्ध निसाना।'* (६।८५।२)

पु० रा० कु०—*'एतना कहत छींक भइ बाएँ।'''''* इति। हरि-इच्छासे यह शकुन हुआ। इधर ये सब रामकार्यमें तत्पर थे और उधर भी कोई चूक न थी। वे भी श्रीरामदर्शनार्थ ही जा रहे थे। बड़ा अनर्थ हो गया होता। कुछ शकुन विचारनेवालोंने विचारकर निश्चय किया कि बायीं दिशामें छींक हुई, यह अच्छा शकुन है, बायीं दिशामें होना 'सुखेत' वा 'सुहाये खेत' में होना निश्चय किया। 'खेत'=क्षेत्र, स्थान, यथा—*'दाहिन काग सुखेत सुहावा।'* (१। ३०३) (सुन्दर दिशा है, अतएव जीत होगी)।

बैजनाथजी—निषाद उत्तर मुख बैठे हैं, उनका बायाँ पश्चिम होगा या वायव्य। ये दोनों स्थान शुभ हैं। यथा—*'उत्तर छींक करै कलही ईशान दिशा धन कोटि बढ़ावै। पूरब मित्र मिलै अपनो आग्नेय अचानक मृत्यु जनावै॥ दक्षिण हानि करै धनको नैर्ऋत्य नवो ऋद्धि सिद्धि जनावै। पश्चिम भोजन मीठ मिलै बायब्य उचासन बैठक पावै॥'* *'औषधे वाहनारोहे विवादे शत्रुनाशने। विद्यारम्भे बीजवापे छिक्का सम शुभा भवेत्॥'* अर्थात् औषध-सेवन, सवारीपर चढ़ते, विवाद, शत्रुके नाश, विद्यारम्भ और बीज बोनेके समय छींक शुभ होती है।

पु० रा० कु० *'बूढ़ु एकु कह सगुन बिचारी'''''* इति।—'बूढ़ु' शब्दसे जनाया कि पहले जिन्होंने विचार किया था, वे जवान थे, जिनको लड़ाई ही प्रिय है। *'सगुन कहइ अस'* अर्थात् हम अपने मनसे नहीं कहते, सगुन ही ऐसा बता रहा है। *'बिग्रहु नाहीं'* अर्थात् जो तुम समझे थे कि *'है कछु कपट भाउ मन माहीं।'*, *'जानहिं रामहिं सानुज मारी।'''''*, सो बात नहीं है, उनमें विरोधभाव नहीं है। *'बिग्रह नाहीं'* अर्थात् सगुन विरोध नहीं बताता। *'भरतहि मिलिय'* उनसे मिलिये, लड़ाई न होगी।

गुहका शकुन

'इसमें स्वभावनिरीक्षण श्रेष्ठ कोटिका है। स्वामीजीका प्रवेश ऐसे समाजमें भी था यह इस वर्णनसे दिखता है। लोकशिक्षा सचमुच ऐसे ही समाजोंमें प्रथम होनी चाहिये। उससे दूर रहकर वह कभी भी हो नहीं सकेगी।'—(मा० ह०)

नोट—दो स्थानोंको छोड़ यह सम्पूर्ण सोपान करुणारससे प्लावित है। दोमें वीररसकी झलक है—एक तो यहाँ निषादराजके वचनोंमें, दूसरे भरतका ससैन्य आगमन सुननेपर लक्ष्मणजीके वचनोंमें।

सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा। सहसा करि पछिताहिं बिमूढ़ा॥७॥
भरत सुभाउ सीलु बिनु बूझें। बड़ि हित हानि जानि बिनु जूझें॥८॥
दो०—गहहु घाट भट समिटि सब लेउँ मरम मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति तब तस करिहउँ आइ॥१९२॥
लखब सनेहु सुभायँ सुहाएँ। बैरु प्रीति नहिं दुरइँ दुराएँ॥१॥

शब्दार्थ—'**सहसा**'=एकदमसे, अकस्मात्, जल्दीबाजी। '**जूझें**'=लड़नेसे' युद्ध करनेसे, लड़ मरनेसे। '***घाट गहहु***'=(घाट-घाट मत छेंको) घाटकी राह छेंको। '***घाट धरना***'=राह छेंकना, जबरदस्तीके लिये राहमें खड़े होना। इसीको पूर्व '**घाटारोह**' कह आये हैं, यथा—'***हथबाँसहु बोरहु तरनि कीजै घाटारोह***' अर्थात् घाटको रोको, किसीको उतरने न दो। '***घाट गहहु***'=घाटपर एकत्र रहो—(दीनजी)। '**गति**'=चलन, ढंग, भाव। '**बूझि**'=जानना, समझना अक्लसे पहचानना।

अर्थ—यह सुनकर गुह कहने लगा कि बुड्ढा ठीक कहता है, मूर्ख लोग जल्दीबाजी करके पीछे पछताते हैं॥७॥ भरतजीका शील-स्वभाव बिना समझे, बिना जाने युद्ध करनेसे बड़ी हितकी हानि है॥८॥ अतः सब भट एकत्र होकर घाटको छेंको; मैं जाकर उनसे मिलकर उनका भेद लूँ कि उनका मित्र-भाव है या शत्रु-भाव है या मध्यस्थ, यह जानकर तब आकर तदनुसार कार्य करूँगा॥१९२॥ उनका प्रेम और सुन्दर स्वभाव (वा उनके सुन्दर स्वभावसे उनका प्रेम) मैं समझ लूँगा, क्योंकि वैर और प्रेम छिपायेसे नहीं छिपते॥१॥

नोट—१ '***सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा***' इति। (क) निषादराज स्वयं शकुन-विचारनेमें बड़े कुशल हैं। यथा—'***लगे होन मंगल सगुन सुनि गुनि कहत निषाद।***'(२३४)। दूसरे यह बुड्ढा है इसकी उम्र विचारमें बीती हैं। अतएव उसकी बातकी प्रशंसा की। (ख) '***सहसा करि***' यथा—'***अनुचित उचित काज किछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥ सहसा करि पीछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥***' (२३१। ३। ४) यथा—'**अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः**' अर्थात् सहसा किये हुए कर्मोंका परिणाम विपत्तितक छातीमें गड़े हुए खूँटेकी तरह दुःखदायी होता है' इति। सुभाषितरत्नभाण्डागारे (र० ब०)

पु० रा० कु०—'***लखब सनेह***····' स्नेह हो या वैर, वह मुख, नेत्र आदिसे प्रकट हो ही जाता है, छिपता नहीं; स्वभावसे आप-ही-आप प्रकट हो जाता है। जैसे स्नेह होगा तो बोली वैसे ही सरल और मृदु होगी। वैरके वचन व्यंगयुक्त होंगे। यथा—'***कपट सार सूची सहज बाँधि बचन परबास। कियो दुराउ चह चातुरी सो सठ तुलसीदास॥***'—(दोहावली)

अस कहि भेंट सँजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग मागे॥२॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने॥३॥
मिलन साजु सजि मिलन सिधाए। मंगल मूल सगुन सुभ पाए॥४॥

देखि दूर तें कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू॥ ५॥
जानि रामप्रिय दीन्ह असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा॥ ६॥

शब्दार्थ—'**सँजोवन**'=सुसज्जित करने, सजाने—(श० सा०)।=इकट्ठी करने या जुटानेकी क्रिया—(रा० प्र०)। '**पीन**'=मोटी, पुष्ट। '**पाठीन**'=पहिना मछली—जिसका पेट चाँदीका-सा उजला और श्याम मुख और उसमें एक लकीर होता है। *'मीन मनोहर ते बहु भाँती।'* (१। ३७। ८) देखिये। मयङ्काकार लिखते हैं कि *'मीन पीन'* गोदधिको कहते हैं और पाठीन मत्स्यपति बड़ी मछलीको कहते हैं, यथा—'**नलमीनश्चिलिचिमः प्रोष्ठी तु शफरी द्वयोः।**' (अमरकोष १। १०। १८) भार—८८-२ देखिये।

अर्थ—ऐसा कहकर वह भेंटकी सामग्री सजाने लगा। कंद, मूल, फल, पक्षी और हिरन मँगवाये॥ २॥ पुरानी मोटी पहिना मछलियाँ भार भर-भरकर कहार लोग ले आये॥ ३॥ भेंटका सामान सजाकर (निषादराज) मिलनेको चले। (मार्गमें उनको) मङ्गलदायक शुभ शकुन मिले॥ ४॥ मुनीश्वर वसिष्ठजीको देखकर (क्योंकि ये सबके आगे थे) दूरहीसे अपना नाम कहकर उसने उनको दण्डवत्-प्रणाम किया॥ ५॥ श्रीरामजीका प्रिय जानकर मुनिने उसे आशीर्वाद दिया और भरतजीसे समझाकर कहा (कि यह रामका सखा है)॥ ६॥

रा० प्र०—१ *'कंद'* जैसे शकरकंद, कमलगट्टा, कमल आदिकी जड़ें। मूल जैसे सुथनी, बंडा, कसेरू आदि। ***फल***—केला, तेंदू, कटार, बेर आदि। ***खग*** जैसे बहरी, जुर्रा, नरूक, शिकरा, कूकी, धूती आदि और मृग चीतर, साँबर, झाँक, ठय्या, रोज, गुण्ड, चिकारा, चीता, स्याहगोश आदि। (कंद-मूल-फलके भेद पूर्व लिखे जा चुके हैं। १२५। ३, १०७। २ देखिये।)

* *'मिलन साजु सजि मिलन सिधाये'* इति।*

मित्र, शत्रु और उदासीन भावोंकी परीक्षाके लिये कैसा विचित्र उपाय किया है। आखिर राजा ही तो ठहरे। अपने सम्राट्से मिलने जाना है; अतएव भेंट ले जाना जरूरी है। भेंटसे अपने धर्मका निर्वाह भी हुआ और उधर राजनीति भी बरती गयी। भेंट तीन प्रकारकी है—*'कंद मूल फल'* यह सात्त्विक है, *'खग मृग'* यह राजसी है और *'मीन पीन पाठीन पुराने'* यह तामसी है और तीन ही भाव भी जानना है। सात्त्विक भेंट स्वीकार करें या उसपर उनकी दृष्टि जाय तो मित्र समझिये। राजसीपर जाय या राजसी भेंट स्वीकार करें तो उदासीन जानिये और यदि तामसी भेंट स्वीकार करें या उसपर अधिक रुचि देख पड़े तो शत्रुभाव जानिये। यह भाव बैजनाथजी, बाबा हरिहरप्रसादजी, बाबा हरिदासजी, मुं० रोशनलाल आदि प्राचीन तिलककारोंने दिया है।

२ लाला सीतारामजीने (यथा संख्यालङ्कारसे जान पड़ता है) राजसीसे शत्रु और तामसीसे उदासीन भाव माना है। वे लिखते हैं कि 'इसी रामायणमें सिद्ध कर दिया गया है कि प्रभुके अरिको भी सुगति हो जाती है। उदासीन जो प्रभुसे विरक्त हैं, न उनके मित्र हैं न शत्रु, महा अधम हैं। अतएव तामसीमें वे दिये गये।'

३—शीला—भरतजी तीनों गुणोंसे परे हैं। उन्होंने किसी भी भेंटपर दृष्टि न डाली। वे तो 'राम-सखा' शब्द सुनते ही रथसे उतरकर उससे प्रेमसे गले लगकर मिलने लगे। (बस, इतनेसे गुहको उनके भावका पता चल गया। दण्डवत्-प्रणाम करके भेंट अर्पण करता वह अवसर भी अभी न आने पाया। श्रीरघुनाथजीके आगमनपर *'करि दंडवत भेंट धरि आगे'* यह क्रम कहा गया है।)

पाँडेजी—भेंटकी रीति है कि जिसको जिस वस्तुका अधिकार है वही देता है। निषाद वन और नदीका राजा है; अतएव अपने अधिकारानुसार ऐसी भेंट लेकर चला। और पूर्व ***'मित्र अरि मध्यगति'*** बूझनेके लिये जानेको कहा ही है, अतएव तीन प्रकारकी भेंट लेकर गया। जो लोग गङ्गाजल भरकर उसमें मछली ले जाना कहते हैं उनका मत ठीक नहीं है। इसका न यहाँ प्रयोजन है और न उसको अधिकार है।

पु० रा० कु०—श्रीरामजी उदासी वेषमें थे, अतः उनको फल-मूल भेंट दी। इनका सब राजसी ठाट है, इससे इनके योग्य भेंट एकत्र की।

वीर—यहाँ निषादराज युद्धकी तैयारीको भेंटकी वस्तुओंद्वारा, भरतसे छिपानेकी क्रिया करता है जिसमें उन्हें यह बात प्रकट न हो; यह 'युक्ति अलङ्कार' है।

श्रीनङ्गे परमहंसजी—१ कोई-कोई महानुभाव शंका करते हैं कि 'भरतजी तो भगवद्भक्त थे, उनके लिये मछली, खग, मृग आदि तामसी पदार्थोंको क्यों ले गया?' समाधान यह है कि श्रीभरतजी राजकुमारके स्वरूपमें हैं, क्योंकि सङ्गमें चतुरङ्गिणी सेना है। हयदल, रथदल, गजदल और पैदल। इससे भेंटमें सब प्रकारकी चीजें ली हैं, क्योंकि नजरमें सब चीजें ली जाती हैं। इसलिये स्वरूपानुकूल भेंटमें मछली आदि भी लीं तो क्या बेजा किया? गुह तो नीतिका पालन कर रहा है और राजकुमारोंके साथ नीति बरती ही जाती है। ऐसे ही भरद्वाजने भी भरतजीके साथ नीतिका बर्ताव किया है। सब प्रकारके भोग तैयार कराये थे (यथा—'*स्रक चंदन बनितादिक भोगा।*' (२१५। ८) अतः भरतजीकी भेंटमें मछली आदिकी शङ्का करनी वृथा है।

२—'शत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीनोंको जाननेके लिये कन्द-मूल आदि लेकर गया', यह कहना भी यथार्थ नहीं है। कारण कि कन्द-मूलादि सब चीजें तो मिलनेके साज हैं और मिलनेसे यह पता चल गया कि भरतजी मित्रभावमें हैं, शत्रु या मध्यस्थमें नहीं हैं। प्रमाण है यह चौपाई—'*राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥*' (१९३। ७) अतः मिलनेसे ही शत्रु, मित्र, मध्यस्थका पता चलता है। भेंटसे पता नहीं चलता है। भेंट तो मिलनेका स्वरूप है कि इस स्वरूपसे मिला जाता है।

वि० त्रि०—जब रामजीके आनेका समाचार सुना तब निषादराज फल-मूल भेंट लेकर गये। यथा—'*लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरष अपारा॥*' (८८। २) पर भरतजी सेनाके सहित आ रहे हैं। सेनामें राजस-तामस बुद्धिवाले लोग भी रहते हैं, अतः कन्द-मूल-फलके साथ खग, मृग, मत्स्य भी भेंटके लिये लेकर चले। भरतजीके स्नेह और शीलका पता भेंटसे लगना किसी तरह सम्भव नहीं था और न निषादराजने ही उसे मित्र, शत्रु और उदासीन भावके पता लगानेका साधन माना। वह स्पष्ट कहता है '*लखब सनेह सुभाय सुहाए। बैर प्रीति नहिं दुरइ दुराए॥*', और वही हुआ। '*राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥*'

नोट—१ '*मंगल मूल सगुन सुभ नाना*' इति। मङ्गल मूल शकुनोंका विस्तृत वर्णन कविने बालकाण्ड ३०३ (२) से दोहा ३०३ तक किया है। वहाँ भी शुभ और मङ्गल विशेषण आये हैं। '*होहिं सगुन सुंदर सुभ दाता॥*' (३०३। १) उपक्रम है और '*मंगलमय कल्यानमय*'''*सगुन।*' (३०३) उपसंहार है। उन्हींमेंसे अनेक शकुन यहाँ निषादराजको हुए।

नोट—२ '*देखि दूर तें कहि निज नामू।*''' इति। (क) अपनी नीच जातिके विचारसे दूरसे प्रणाम किया। नाम कहकर प्रणाम करना यह रीति है। बाबा हरिदासजीका मत है कि 'मुनीश' कहकर जनाया कि मननशील, विचारवान् और त्रिकालज्ञ हैं। इससे सब हाल गुहका जान गये। इसीसे उन्होंने भरतजीसे समझाकर कहा कि यह रामसखा है। यह जानते हैं कि वह आत्मसमर्पण धर्ममें प्रवीण और दीन है; अतएव '*जानि रामप्रिय*' कहा और आशीर्वाद दिया। (शीला) श्रीवसिष्ठजीको सुमन्त्रजीके लौटनेपर निषादराजकी सेवाका समाचार मिल चुका है, नाम भी मालूम हो चुका है। अतः जब निषादराजने नाम लेकर प्रणाम किया तब वे समझ गये कि यही वह रामसखा है। और भरतसे समझाकर कहा। सर्वज्ञतासे जानना विशेष सङ्गत नहीं है।

(ख) वसिष्ठजी रथपर हैं; और निषादराज दूर है, इसीसे वे उससे यहाँ न मिले। और, चित्रकूटमें समीपसे प्रणाम किया था और मुनि भी पैदल थे, रथपर न थे, इसीसे वहाँ रामप्रिय जान छातीसे लगाकर मिले। (पु० रा० कु०) विशेष २४३ (६) में देखिये। (ग) '*बुझाइ*' का भाव कि यही

रामसखा निषादराज है। (रा० प्र०), यह श्रीरामजीका प्यारा है, इसीने उनकी सेवा सिंगौरमें की, इत्यादि। बुझानेका कारण भी है कि भरतजी विह्वल हैं। (घ) सबके आगे मुनि थे, अतः प्रथम उनको दण्डवत् की।

वाल्मीकीयमें श्रीसुमन्त्रजीने भरतजीसे कहा है कि यह श्रीरामजीका सखा निषादराज गुह है। पर मानसकल्पके चरित्रमें सुमन्त्रजीका नाम राजाको रामसंदेश सुनानेके पश्चात् रामराज्याभिषेकके समय ही आया है। हानि-ग्लानिवश वे घरसे १४ वर्ष निकले ही नहीं।

राम सखा सुनि संदनु* त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥७॥
गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥८॥
दो०—करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लषन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ॥१९३॥

शब्दार्थ—संदनु (स्यंदन)=रथ। जोहारु=प्रणाम।

अर्थ—'रामसखा' यह (शब्द) सुनकर ही श्रीभरतजीने रथ त्याग दिया। रथसे उतरकर वे प्रेममें उमड़ते हुए चले॥७॥ गुह निषादराजने अपना गाँव, अपनी जाति और अपना नाम *'गुह'* सुनाकर पृथ्वीसे माथा लगाकर प्रणाम किया॥८॥ उसको दण्डवत् करते देखकर श्रीभरतजीने उसे छातीसे लगा लिया। हृदयमें प्रेम नहीं समाता, मानो लक्ष्मणजीसे भेंट हो गयी हो॥१९३॥

नोट—१ *'चले उतरि उमगत अनुरागा'* इति। यहाँ भागवतदर्शनकी रीति दिखायी। सवारीसे उतरकर प्रणाम आदि करना चाहिये। यह राम-प्रिय है और *'राम कहहिं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास।'* (दोहावली १४१), अतएव सवारीसे उतर पड़े, उससे मिलने चले। 'रामप्रिय', 'रामसखा' के दर्शन होंगे, यह समझकर प्रेम उमड़ा चला आता है, हृदयमें रोके नहीं रुकता; जैसे-जैसे आगे पैर पड़ता है तैसे-तैसे अनुराग बढ़ता जाता है। निषादराज उनको अपनी ओर बढ़ते देख समझते हैं कि ये हमारी जाति, कुल और स्वभाव नहीं जानते; इसीसे बढ़े हुए मिलने आते हैं, ऐसा न हो कि पीछे उन्हें और मुझे दोनोंको पछताना पड़े; अतएव वह ग्रामका नाम (सिंगौर), जाति (निषाद हिंसक), नाम (गुह अर्थात् जो पराया धन हरण करता है) सब बताकर पृथ्वीपर माथा रखकर प्रणाम करता है। उसने यह सब कह दिया कि जिसमें उन्हें धोखा न हो।

नोट—२ *'मनहुँ लषन सन भेंट भइ—'* इति। लक्ष्मणजी भाई और यह सखा दोनों बराबर। लक्ष्मणजीने सर्वस्व प्रभुको समर्पण कर दिया, श्रीरामजी ही उनके सर्वस्व हैं, यथा—*'गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥ जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥ मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी॥'* (७२। ४—६) और इसने भी अपना सर्वस्व प्रभुको अर्पण किया—*'देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा॥'* (८८। ६) दोनों परम भागवत और दोनों रामजीको परम प्रिय हैं। अतएव लक्ष्मणसे ही भेंट होनेसे जैसा सुख होता वैसा ही हुआ, उसको भाई लक्ष्मण-सरीखा ही मानकर उससे अनुरागपूर्वक मिले। भरतजी लक्ष्मणजीसे कैसे मिलते हैं यह *'भूरि भाय भेंटे भरत।'* (२४१), *'मिले प्रेम परिपूरित गाता॥'* (१। ३०८), *'लछिमन भरत मिले तब परम प्रेम दोउ भाइ।'* (७। ५) इन उद्धरणोंसे समझ लीजिये। इसी प्रकार श्रीभरतजी गुहसे मिले।

नोट—३ अ० रा० में मिलता-जुलता श्लोक यह है—'ननाम शिरसा भूमौ गुहोऽहमिति चाब्रवीत्।' (२। ८। २१)। 'शीघ्रमुत्थाप्य भरतो गाढमालिङ्ग्य सादरम्।' 'कीन्ह जोहारु माथ महि लाई' ही 'ननाम शिरसा भूमौ' है। *'गुह नाम सुनाई'* ही 'गुहोऽहमिति अब्रवीत्' है। *'करत दंडवत देखि'* में शीघ्रका भाव

* स्यंदनु-को० रा०।

और '*लीन्ह उर लाइ*' में '*उत्थाप्य*....' का भाव जना दिया कि तुरत उठाकर सादर प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया।

भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥ १॥
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥ २॥
लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाहँ छुइ लेइअ सींचा॥ ३॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥ ४॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं॥ ५॥
एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जगु पावन कीन्हा॥ ६॥
करमनास जलु सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहि धरई॥ ७॥
उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना॥ ८॥

दो०—स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।
रामु कहत पावन* परम होत भुवन बिख्यात॥ १९४॥

नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई॥ १॥
राम नाम महिमा सुर कहहीं। सुनि सुनि अवधलोग सुखु लहहीं॥ २॥

शब्दार्थ—**'सींचा'**=(पंजाबीमें) जल। **'लेइअ सींचा'**=स्नान या मार्जन करना पड़ता है वा करना चाहिये। **'जमुहाहीं'**=जँभाई लेते हैं—(सं० जृम्भा)। जँभाई—मुँहके खुलनेकी एक स्वाभाविक क्रिया है जो निद्रा या आलस्य मालूम पड़ने या दुर्बलता आदिके कारण होती है। इसमें मुँहके खुलते ही साँसके साथ बहुत-सी हवा धीरे-धीरे भीतरकी ओर खिंच जाती है और कुछ क्षण ठहरकर धीरे-धीरे बाहर निकलती है। **'भरि अंक'**=दोनों हाथोंसे घेरकर छाती और गले लगाकर प्यारसे। **'समुहाहीं'**=सामने आते, सामना करते हैं। **'खस'** वर्तमान गढ़वाल और उसके उत्तरवर्ती प्रान्तके रहनेवाले व्रात्य क्षत्रियसे उत्पन्न एक प्राचीन जाति जिसका वर्णन महाभारत और राजतरङ्गिणीमें आया है। इसके वंशज अबतक नेपाल और काश्मीरमें इसी नामसे विख्यात हैं। इन्हें खासिया भी कहते हैं। **सबर**—दक्षिणमें रहनेवाली जंगली या पहाड़ी जाति; शूद्र तथा भीलसे उत्पन्न संतान।

अर्थ—श्रीभरतजी उसे अत्यन्त प्रेमसे कंठसे लगा रहे हैं। लोग इस प्रेमकी रीतिकी ईर्ष्यापूर्वक बड़ाई करते और ललचाते हैं॥ १॥ मङ्गलमूल 'धन्य-धन्य' शब्दोंकी ध्वनि हो रही है। देवता उसकी सराहना कर-करके फूल बरसाते हैं॥ २॥ (क्या सराहते हैं कि—) यह लोक और वेद दोनोंमें सब तरहसे ही नीच है जिसकी परिछाहीं छू जानेसे मार्जन वा स्नान करना पड़ता है॥ ३॥ उसे ही अँकवार भरकर (गले और हृदयसे लगाकर) श्रीरामजीके छोटे भाई (श्रीभरतजी) मिलते हुए शरीरसे भरपूर पुलकायमान हो रहे हैं॥ ४॥ जो लोग राम-राम कहकर जँभाई लेते हैं। (आलससे भी जिनके मुखसे रामनाम निकल पड़ता है) पापसमूह उनके सामने नहीं आते॥ ५॥ और इसे तो साक्षात् श्रीरामजीहीने (और इसने श्रीरामजीको) हृदयसे लगा लिया और कुलसमेत इसे जगत्में पवित्र बना दिया अर्थात् जब श्रीरघुनाथजीने इसे पवित्र मान लिया तो जगत्में कौन इसको और इसके कुलको पवित्र न मानेगा और तब श्रीभरतजी इसका इतना सम्मान क्यों न करें† ॥ ६॥ कर्मनाशानदीका जल गङ्गाजीमें पड़ता है तब कहिये तो कौन उसे सिरपर धारण नहीं करता? अर्थात् तब उसे सभी पवित्र मानकर मस्तकपर चढ़ाते हैं॥ ७॥ जगत् जानता है कि

* राजापुरमें 'पाँवर' पाठ है। अर्थात् जो परम नीच हैं वे सब।

† 'जग पावन कीन्हा' के और भी अर्थ ये हो सकते हैं—(क) कुलसमेत इसको जगत्‌का पावन करनेवाला

उलटा नाम (मरा-मरा) जपते-जपते वाल्मीकिजी ब्रह्मके समान हो गये॥ ८॥ श्वपच, शबर, खस, यवन, कोल, किरात आदि मूर्ख (असभ्य) और नीच लोग भी राम-नाम कहते ही परम पवित्र और लोकोंमें प्रसिद्ध हो जाते हैं॥ १९४॥ इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, यह बात तो युग-युगान्तरसे चली आ रही है; रघुबीर श्रीरामचन्द्रजीने किसको बड़प्पन नहीं दिया? अर्थात् सभीको इनके सम्बन्धसे बड़प्पन मिला॥ १॥ इस तरह देवता श्रीराम-नामकी महिमा कह रहे हैं और अवधवासी सुन-सुनकर सुख पा रहे हैं॥ २॥

वि० त्रि०—'*भेंटत भरत ताहि अति प्रीती।* ....' इति। भरतजी पुलकित होकर अङ्क भरकर अत्यन्त प्रेमसे निषादसे मिल रहे हैं, जिसकी छाया छू जानेसे मार्जनका विधान है, परन्तु प्रीतिकी रीति ऐसी है कि वह भेद सहन नहीं कर सकती। (श्रीरामजीने कहा है कि '**हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा। इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः**' (हनुमन्नाटक ५। २५) जानकीजीके विश्लेषके भयसे मैंने हार नहीं पहना; सो आज हमारे उनके बीचमें पर्वत, नदी और वृक्ष आ गये हैं) यह प्रेमकी महिमा है कि अयोध्यावासी इस प्रकारके मिलनके लिये तरसते हैं।

टिप्पणी—१ '*लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥* ....'। (क) 'सिहाते हैं' कि हममें भी ऐसा प्रेम उत्पन्न होता तो भरतजी रथ छोड़ दौड़कर हमसे भी मिलते। पुनः, प्रेमकी रीति देखकर कहते हैं कि प्रेम ऐसा ही पदार्थ है, इसमें बड़ेकी बड़ाई न छोटेकी छोटाई, दोनोंमेंसे कोई भी नहीं रह जाती, छोटे-बड़ेका नियम और विचार जाता रहता है। मिलान कीजिये—'*जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥ नेह निबाहि देह तजि दसरथ कीरति अचल चलाई। ऐसेहुँ पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई॥ तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि परानप्रिया बिसराई। रन परेउ बंधु बिभीषनही को सोचु हृदय अधिकाई। घर गुरगृह प्रियसदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहँ सबरीके फलनि की रुचि माधुरी न पाई। सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई। केवटमीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई॥ ५॥ प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई। तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहि को सेवकाई॥ तुलसी राम सनेह सील सुनि जो न भक्ति उर आई। तौ तोहि जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई॥*' (विनय० १६४) '*श्रीरघुबीर की यह बानि। नीचहू ते करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥ परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि। लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेमको पहिचानि॥*' (विनय० २१५) (ख) '*लोग*'—ये अवधपुरवासी हैं जो फल-मूल-दूध पीकर व्रत कर रहे हैं, नियमसे रह रहे हैं, उनका सिहाना कहा। और, '*धन्य धन्य धुनि*...', यह देवताओंके शब्द हैं, ब्रह्मादि, इन्द्रादि देवता इन शब्दोंसे उसकी सराहना करते हैं, फूल बरसाते हैं मानो पूजा देते हैं (मारे आनन्दके फूलोंकी वृष्टि करते हैं) और कहते हैं—'*लोक बेद*....।' यह देवताओंका सराहना है। इसके द्वारा कवि सबको उपदेश दे रहे हैं। [(ग) 'बेदसे नीचा' का भाव कि प्रतिमार्चनादिका भी अधिकार नहीं। '*छाँह छुइ*' का भाव कि जिस जातिकी परिछाहींतक अपावन मानी जाती है, तनका तो कहना ही क्या? (वै०)] पुनः, '*सब भाँतिहि नीचा*' यह निषाद है और वे क्षत्रिय, यह प्रजा वे सार्वभौम सम्राट् इत्यादि।

टिप्पणी—२ '*तेहि भरि अंक*...' इति। देहसे मिलते हैं और भीतर प्रेमसे शरीर परिपूर्ण भरा है; इसीसे शरीरभरमें प्रेमकी पुलकावली हो रही है।

मा० हं०—इस वर्णनका प्रेम प्रेक्षणीय है। प्रेमकी लहरोंमें गोसाईजी कैसे रँग जाते थे, यह दिखलानेवाले प्रसङ्गोंमेंसे यह भी एक प्रसङ्ग है। गोसाईंजीके धर्म-सम्बन्धी मतका निश्चय करनेके लिये यह वर्णन हमारी समझसे बहुत ही उपयुक्त होगा।

बना दिया। परम भागवत होनेसे लोग इसका नाम लेकर पवित्र हो जायँगे। इसका चरित तथा इसके कुलके नाविक केवटके प्रेममय चरितको पढ़-सुन-कहकर लोग पवित्र होंगे। (पं० रा० कु०) प० प० प्र० स्वामी और भी अर्थ ये कहते हैं—(ख) जग=देह। भा० १०। १४ ब्रह्मस्तुतिमें 'जगदेतत्तवार्पितम्' के 'जगत्' का अर्थ 'देह' है। निषाद जातिकी देह अपवित्र थी—'*जासु छाँह छुइ लेइय सींचा*'। उसको पवित्र बना दिया।

टिप्पणी—३ *'न पापपुंज समुहाहीं'* अर्थात् पापसमूह आते भी हों तो लौट जायँ। [यथा—'**अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः। पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥**' अर्थात् जैसे सिंहको देखकर मृग डरकर भागे वैसे ही विवश होकर भी नाम लेनेसे सब पाप दूर होते हैं (विष्णुपुराण—वै०)] और इसे तो जिनके नामका ऐसा महत्त्व-परत्व है उन्हीं श्रीरामने स्वयं हृदयसे लगा लिया तो इसमें पाप कहाँ रह सकता है? (शबरके प्रसङ्गमें विष्णुदूतोंने शालग्रामशिलाका माहात्म्य यह कहा है कि उसका स्पर्शमात्र सब पापोंको क्षणभरमें जला डालता है। उसके अनुसार *'राम लाइ उर लीन्हा'* का भाव यह है कि जिनके स्वयं अर्चावतारके स्पर्शका यह प्रभाव है उनके स्वयं स्पर्शका तथा जिसको उन्होंने स्वयं उसके यहाँ आकर हृदयसे लगाया उसके भाग्यका तथा इस आलिंगनके प्रभावको कौन कह सकता है? पहले साधारण बात कहकर फिर उसका विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है)। इसके तो कुल और जाततकको उन्होंने पावन बना दिया एवं कुलसमेत इसे जग-पावन, जगत्को पवित्र करनेवाला बना दिया। इसीकी पुष्टि आगे करते हैं कि *'करमनास जल०'*।

प० प० प्र०—*'यह तो राम लाइ उर लीन्हा'* इति। जब निषादराज श्रीरघुनाथजीसे मिलने आया था तब उसका हृदयसे लगाया जाना नहीं कहा गया है। यथा—*'सहज सनेह बिबस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई॥'* (८८। ४) तब यहाँ *'लाइ उर लीन्हा'* कैसे कहा?

समाधान—निकट बैठाना कहकर ही जना दिया कि ऐसा करनेके पूर्व उसे हृदयसे लगाया था। यह नियम देखनेमें आता है कि जहाँ-जहाँ श्रीरामजीने किसीको निकट बिठाया है वहाँ-वहाँ प्रथम उसको हृदयसे लगाया है, पर यह नियम नहीं है कि जहाँ हृदयसे लगाया है वहाँ अवश्य निकट बिठाया हो। उदाहरण लीजिये—(१) *'करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥ स्वागत पूछि निकट बैठारे।'* (३। ४१। १०-११; श्रीनारदजीको), *'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥'* (५। ३३। ४) (श्रीहनुमान्‌जीको), *'अस कहि करत दंडवत देखा।''''भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥ अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी।'* (५। ४६। १—३) (श्रीविभीषणजीको), 'सुनत गुहा *धाएउ प्रेमाकुल।''''परेउ अवनि तन सुधि नहिं तेही। प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥ लियो हृदय लाइ कृपानिधान सुजान राम रमापती। बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती।'* (६। १२० श्रीनिषादराजजी)।—ये उदाहरण इसके हैं जहाँ निकट बैठानेके पूर्व हृदयसे लगाया है। (२) जहाँ हृदयसे लगाया है पर निकट नहीं बैठाया है उसके उदाहरण ये हैं—*'तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥'* (४। ३। ६ श्रीहनुमान्‌जीको), *'सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥'* (४। ४। ७ श्रीसुग्रीवजी) श्रीसनकादिकजीको न तो हृदयसे लगाया और न निकट ही बैठाया। केवल बैठाना वहाँ कहा है। यथा—*'कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे।'* (७। ३३। ६) ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जहाँ निकट बैठाया हो पर हृदयसे न लगाया हो, अतः यहाँ भी हृदयसे गुहको अवश्य लगाया था यह सिद्ध होता है। [वहाँ यह बात न कही थी क्योंकि उस प्रसंगकी बात यहाँ फिर कहनी थी। अतः एक बात वहाँ कही और दूसरी यहाँ कही। यह कविकी शैली है। वाल्मी० और अ० रा० में भी शृंगवेरपुरमें गुहको हृदयसे लगाना कहा है। यथा—'**गुहमुत्थाप्य तं तूर्णं राघवः परिषस्वजे।**' (अ० रा० २। ५। ६३), '**तमार्तः सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत्।**' (वाल्मी० २। ५०। ३६) अतः गुहको हृदयसे लगानेमें संदेह नहीं है]।

नोट—१ *'करमनास जलु''''* इति। (क) कर्मनाशाके जलमें स्नान करनेसे किये हुए शुभकर्म नष्ट होते हैं—[बा० ६ (८) देखिये] वही जल जब गङ्गाजीमें मिल जाता है तब उसे सभी मस्तकपर चढ़ाते हैं। (ख)—यहाँ राम गङ्गा और गुह कर्मनाशा हैं। अधिकता यहाँ यह है कि वहाँ कर्मनाशा जाकर गङ्गामें मिलकर पावन होती है और यहाँ गङ्गा स्वयं जाकर कर्मनाशाको पावन करती हैं। वहाँ कर्मनाशाका कुछ जल पवित्र होता है यहाँ कुलसमेत निषादरूपी पूरी कर्मनाशा पवित्र हो जाती है।

(पु० रा० कु०)(ग) कुब्जाको अपनानेसे उसके सम्बन्धमें भी गोपियोंने ऐसा ही कहा है। मिलान कीजिये—'*प्रिय सम प्रिय सनेह भाजन सखि, प्रीति रीति जग जानी॥ भूषन भूमि गरल परिहरि कै हर मूरति उर आनी। मज्जन पान कियो कै सुरसरि कर्मनास जल छानी॥*' (कृष्ण गी० ४९) (घ) बालकाण्डके '*सुरसरि जलकृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥*' '*सुरसरि मिलें सो पावन जैसें। ईस अनीसहि अंतरु तैसें॥*' (७०। १-२) से मिलान कीजिये। यहाँ स्पृश्यास्पृश्यताविषयक मत गोस्वामीजीका क्या है यह उन्होंने स्पष्ट बता दिया है कि आज भी अस्पृश्य जातिका व्यक्ति परम भागवत बन जानेसे अस्पृश्य नहीं रह जाता। (प० प० प्र०) ☞अस्पृश्य जातिके लिये कितना सुगम उपाय है जिससे वे अपनी अस्पृश्यता हटा सकते हैं। (घ)—'*एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा।*"' के भाव टिप्पणी ३ आदिमें आ चुके हैं। (ङ) '*एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जगपावन कीन्हा॥*' अर्थात् श्रीरामजीके स्पर्शसे निषाद पवित्र हुआ, यह उपमेय वाक्य है। '*करमनास जल*"*धरई*' उपमान वाक्य है। दोनों वाक्योंमें बिना वाचकपदके बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव झलकना 'दृष्टान्त अलङ्कार' है। (च) अ० रा० में श्रीभरतजीने स्वयं निषादराजसे कहा है कि '**भ्रातस्त्वं राघवेणात्र समेतः समवस्थितः। रामेणालिङ्गितः सार्द्रनयनेनामलात्मना॥**' '**धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि यत्त्वया परिभाषितः। रामो राजीवपत्राक्षो लक्ष्मणेन च सीतया॥**' (२। ८। २३-२४) अर्थात् 'तुम यहाँ श्रीरामचन्द्रजीके साथ रहे थे और निर्मलहृदय श्रीरामजीने नेत्रोंमें जल भरकर तुम्हारा आलिङ्गन किया था।' तुमसे श्रीसीता-लक्ष्मणसहित श्रीरामजीने वार्तालाप किया था, अतः तुम धन्य हो, तुम्हारा जीवन सफल है।' वही मानसकल्पमें देवताओंने कहा है। '*तेहि को कहहु*' से जनाया कि यह सभी जानते हैं।

नोट—२ '*उलटा नाम जपत जग जाना।*"' इति। भाव कि कुछ हम ही नहीं कह रहे हैं जगत्‌भरमें विख्यात है। उलटा नाम 'मरा-मरा' जपनेका प्रमाण, यथा—'**इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा॥**' (अ० रा० २। ६। ८०) १। ३(३) और १८९ (५) देखिये। (ख) '*ब्रह्मसमाना*' अर्थात् ब्रह्माके दसवें मानसिक पुत्र हुए। पुनः ब्रह्माके मुखसे वेद प्रकट हुए और इनके मुखसे वेदका उपबृंहणरूप रामायण हुआ, अतः ब्रह्मसमान कहा। अथवा, ब्रह्म अर्थात् ईश्वर ही रूप हो गये, त्रिकालज्ञ हुए—'**ततश्च वर्णयामास राघवं ग्रन्थकोटिभिः रावणकं वधः**'; इन्होंने रावणवधतक छः काण्ड भूतकालके कहे, (क्योंकि इन्होंने रामायण उस समय प्रारम्भ की जब रामचन्द्रजी गद्दीपर बैठ गये और राज्य करने लगे), श्रीरामराज्य वर्तमान कहा और अवधवासियोंसहित साकेतयात्रा यह भविष्य कहा—यह उलटे नामके जपका प्रभाव है और इसे तो स्वयं मिलकर उन्होंने गले लगाया। (पु० रा० कु०) यहाँ 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है।

नोट—३ '*श्वपच सबर खस जमन*"' इति। द्वापरमें वाल्मीकि नामक श्वपच भक्त हुए, जिनके प्रसाद सेवन करनेपर युधिष्ठिर महाराजका यज्ञ पूर्ण हुआ। कथा भक्तमालमें प्रसिद्ध है। पं० पु० सृष्टिखण्डमें पितृभक्त मूक चाण्डालकी कथा है जिसके यहाँ भगवान् मनोहर ब्राह्मणका रूप धारण किये हुए नित्य क्रीड़ा किया करते थे। (ख) '*सबर*' इति। पद्मपुराण पातालखण्डमें राजा रत्नग्रीवसे शालग्रामकी महिमाके वर्णनमें एक 'शबर' नामक पुल्कस जातिके एक मगधनिवासी मनुष्यकी कथा आयी है जो नित्य ही जीवोंकी हत्या करता और लोगोंका धन लूटा करता था, राग-द्वेष और काम-क्रोधादिका तो वह भण्डार ही था। वह सदा तीर्थयात्रियोंको लूटता और परस्त्रियोंका सतीत्व नष्ट करनेमें तत्पर रहता था। एक बार जब वह प्राणियोंको भय देता हुआ विचर रहा था उसका अन्तकाल आ गया और यमदूत उसे रौरवनरकमें ले जानेके लिये वहाँ पहुँच गये, एक परमदयालु भगवद्भक्त महात्माने यमदूतोंको देखा कि वे शबरको बाँधकर ले जाना चाहते हैं तो उनको करुणा आ गयी। उन्होंने शबरको यमयातनासे बचानेके लिये तुरत शालग्रामशिला हाथमें ली और शबरके पास आकर भगवान् शालग्रामका तुलसीदलमिश्रित चरणामृत उसके मुखमें डाल दिया और कानमें राम-नाम सुनाया, मस्तकपर तुलसी रखी और छातीपर शालग्रामशिला रखकर कहा—'यमयातना

देनेवाले यमदूत यहाँसे चले जायँ। शालग्रामशिलाका स्पर्श इसके पातकोंको भस्म कर डाले।' उसी समय एक बहुत ही मनोहर विमान आया जो शबरको स्वर्ग ले गया। वहाँ प्रचुर भोगोंका उपभोग करके वह काशीपुरीमें ब्राह्मणकुलमें पैदा हुआ और अन्तमें परमपदको प्राप्त हुआ। (अध्याय २०) 'शबर' भीलको भी कहते हैं। श्रीशबरीजीकी कथा इसी ग्रन्थमें है। उसकी भक्तिसे श्रीरामजीने उसका दण्डकारण्यके ऋषियोंसे भी अधिक आदर किया। उसकी गणना 'हरिवल्लभों' में कमला, गरुड़, सुनन्द आदि षोडश पार्षदों तथा श्रीहनुमान्‌जी, जाम्बवान्, सुग्रीव और विभीषणजीके साथ की गयी है। भक्तमाल देखिये। (ग) *'खस'*—इसकी कथा महाभारतमें तथा सत्योपाख्यानमें पञ्च-चोरोंकी कथामें है। श्रीमद्भागवतके (आगे दिये हुए) श्लोकमें इसका नाम आया है। (घ) *'जमन'*—एक यवनकी कथा वराहपुराणमें आयी है। अन्त समय इसके मुखसे जो शब्द निकला उसके अन्तिम अक्षर 'राम' थे, इतनेहीसे उसके सब पाप नष्ट हो गये और उसकी मुक्ति हो गयी। यह 'राम' नामके आभासमात्रका फल है। यथा—'**दैवाच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो हा रामेण हतोऽस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान्। तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवम्**…।' (वराहपुराण), *'आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मगमैं। गिरो हिये हहरि हराम हो हरामहन्यो हाय हाय करत परीगो काल फगमैं॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो नामके प्रताप बात बिदित है जगमैं*…।' (क० ७। ७६) (ङ) *'जड़'*—इसे पूर्वोक्त श्वपचादिका विशेषण मान सकते हैं। (क० ७। ७६) में 'जड़' शब्द यवनके विशेषणमें आया ही है। अथवा भाव कि ऐसे ही जो और भी शास्त्रज्ञानविहीन मूढ़ मनुष्य हैं उनका भी नामके स्मरणसे परमपदको पाना कहा है। यथा—'**त्वन्नामस्मरणान्मूढः सर्वशास्त्रविवर्जितः। सर्वपापाब्धिमुत्तीर्य स गच्छेत्परमं पदम्॥**' (प० पु० पाताल० ३७। ५०) इस श्लोकका 'मूढ़' शब्द ही यहाँका 'जड़' है। अर्थात् मूर्ख, शास्त्रज्ञान और बुद्धि-विचारसे रहित मनुष्य। (च) *'पाँवर'*=नीच। यह कोलकिरातका विशेषण है। 'जड़' को इनका भी विशेषण मान सकते हैं। ये सब भी जड़ कहे गये हैं। यथा—*'हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥'* (२५१। ४) पाँवरको अलग भी ले सकते हैं अर्थात् और भी जो एसे नीच हैं। (छ) कोल-किरात तो प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ एक-एक उदाहरण दिया गया। ऐसे ही न जाने कितने पवित्र हुए।

नोट—४ *'पावन परम होत'* इति। यथा—*'पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना। गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥ आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेपि पावन होत राम नमामि ते॥'* (७। १३०) '**किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंका यवनाः खशादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥**' (२) '**श्वपाकोऽपि हि संस्मृत्य रामं याति परां गतिम्। ये वेदशास्त्रनिरतास्त्वादृशास्तत्र किं पुनः॥**' (प० पु० पाताल० ३५) (अर्थात् श्वपच चाण्डाल भी श्रीरामका स्मरण करके परम गतिको प्राप्त होता है तब आप-जैसे वेदशास्त्रपरायण पुरुषोंके लिये तो कहना ही क्या है?) *'रामनाम सुमिरत सुजस भाजन भये कुजाति। कुतरुक सुरपुर राजमग होत भुवन बिख्याति॥'* (दोहा १६) पुनः, *'परम पावन'* का भाव यह कि जो स्वाभाविक पवित्र हैं उनसे भी अधिक पवित्र हो जाते हैं।

नोट—५ *'भुवन बिख्यात'* इति। इसके दो अर्थ होते हैं। वे परम पावन और संसारमें प्रसिद्ध हो जाते हैं। पुराणों, इतिहासों, भक्तमालाओं इत्यादिके द्वारा लोग सर्वत्र जानते हैं। दूसरा अर्थ है कि यह सिद्धान्त संसारभर जानता है। क्योंकि यही सब वेदों, इतिहासों, शास्त्रों आदिका स्पष्ट सिद्धान्त है। यथा—'**सर्ववेदेतिहासानां सारार्थोऽयमिति स्फुटम्। यद्रामनामस्मरणं क्रियते पापतारकम्॥ तावद्गर्जन्ति पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। न यावत्प्रोच्यते नाम रामचन्द्र तव स्फुटम्॥ त्वन्नामगर्जनं श्रुत्वा महापातककुञ्जराः। पलायन्ते महाराज कुत्रचित्स्थानलिप्सया॥ तावत्पापभियः पुंसां कातराणां सुपापिनाम्। यावन्न वदते वाचा रामनाममनोहरम्॥**' (प० पु० पाताल अ० ३७। ५१—५३, ५६) अर्थात् समस्त वेदों और इतिहासोंका यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि रामनाम-स्मरण पापोंसे उद्धार करनेवाला है। ब्रह्महत्यादि पाप तभीतक गर्जते हैं जबतक

आपका नाम स्पष्ट रूपसे उच्चारण नहीं किया जाता। नामका गर्जन सुनकर महापातकरूपी गजराज छिपनेका स्थान ढूँढ़ते हुए भाग खड़े होते हैं। महान् पापीको तभीतक भय बना रहता है जबतक वह परम मनोहर रामनामका उच्चारण नहीं करता।

नोट—६ *'नहिं अचिरिजु…'* इति। यह एक, दो उदाहरण दिये हैं, ऐसे ही न जाने कितने इन जातियोंमें पवित्र हुए। यह सुनकर लोग आश्चर्य करेंगे, इसीसे कहते हैं कि आश्चर्य न करो—*'नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई…'*। प्रत्येक युगमें ऐसा होता चला आया है जैसे सत्ययुगमें यवन तथा प्रह्लादादिने श्रीरामनामसे बड़ाई पायी, भक्तशिरोमणि माने गये। त्रेतामें शबर, शबरी, विभीषणादि। विभीषणजीकी रामनामकी भक्ति भक्तमालमें प्रियादासजीने दिखायी है यथा—*'राम नाम लिखि शीशमध्य धरि दियो याके यही जल पार करै भाव साँचो पायो है।'* (कवित्त ३०) शबरके कानमें रामनाम सुनाया गया। द्वापरमें वाल्मीकि, श्वपचादि और कलिमें कबीर, रविदास आदि असंख्योंने रामनामसे बड़ाई पायी। विशेष *'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ'* (बा० २२। ८) देखिये। आश्चर्य तब करनेकी बात है जब यह बात नयी हो, पहले न हुई हो। *'रघुबीर'* पद अन्तमें देकर जनाया कि राम कोई इनसे परे ब्रह्म नहीं हैं, यही हैं, जिनका 'राम' नाम सबने लिया।

नोट—७ *'रामनाम महिमा सुर कहहीं…'* इति। (क) यहाँतक देवताओंकी वाणी हुई। *'सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला।'* (१९४। २) उपक्रम है और *'रामनाम महिमा सुर कहहीं।'* (१९५। २) उपसंहार है, बीचमें देवताओंके वचन हैं। *'राम नाम महिमा…'* ये वचन कविके हैं कि महिमा सुनकर अवधवासियोंको सुख प्राप्त हो रहा है। (ख) सुख यह कि हमारे ही रघुनाथजी हमारे ही 'श्रीरामजी' की महिमा ये कह रहे हैं, इनसे परे कोई अलख, अगुण, निरंजन, आदि दूसरा 'राम' नहीं है। हमारे प्यारे श्रीरघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामके ही उपासक सब देवता हैं। पुनः, (रा० प्र०—इनसे सुना कि अधम भी जो सम्मुख हुए उनके भी अभीष्ट पूर्ण हुए तब हम अवधवासियोंके अभीष्ट क्यों न पूरे होंगे। वा, हम तो इन्हें राजकुमार ही जानते रहे पर ये ब्रह्म हैं, अतएव और भी बन गया। हमारी आशा अवश्य पूर्ण करेंगे, यथा—*'जौं जगदीस तो अति भलो जौं महीस बड़ भाग। तुलसी चाहत जनम भरि रामचरन अनुराग॥'* (दो० ९१) वा, अपने स्वामीकी दीन-दयालुता सुनकर सुखी होते हैं।)

नोट—८ *'भेंटत भरत ताहि अति प्रीती'* यह कहकर भेंटका प्रसंग छोड़ लोगों एवं देवताओंकी बातें कहने लगे थे। *'लोग सिहाहिं प्रेमकै रीती'* उपक्रम और *'सुनि सुनि अवध लोग सुख लहहीं'* उपसंहार है। *'धन्य धन्य…सुर सराहि'* से *'रामनाम महिमा सुर कहहीं'* तक देवताओंद्वारा प्रशंसा और रामनाम-महिमा है। अब फिर पूर्वसे प्रसङ्ग मिलाते हैं—*'भेंटत भरत ताहि अति प्रीती'* और *'राम सखहि मिलि भरत सप्रेमा'*। जितनी देर गले लगे रहे उतनेहीमें यह वार्ता भी हो गयी ऐसा जान पड़ता है।

रामसखहिं मिलि भरतु सप्रेमा। पूँछी कुसल* सुमंगल खेमा॥ ३॥
देखि भरत कर सीलु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥ ४॥
सकुच सनेहु मोदु मन बाढ़ा। भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा॥ ५॥
धरि धीरजु पद बंदि बहोरी। बिनय सप्रेम करत कर जोरी॥ ६॥
कुसलमूल पदपंकज पेखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥ ७॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरें। सहित कोटि कुल मंगल मोरें॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीने प्रेमसहित श्रीरामसखासे मिलकर उनका कुशल, क्षेम और मंगल-समाचार पूछा॥ ३॥ भरतजीका शील-स्वभाव और प्रेम देखकर निषाद उस समय विदेह हो गया अर्थात् प्रेममें मग्न

* 'सकल।'—भा० दा०।

होकर देहकी सुध भूल गया॥ ४॥ उसके मनमें संकोच, स्नेह और आनन्द बहुत बढ़ा (इनकी बाढ़ आ गयी) और वह खड़ा-खड़ा टकटकी लगाये श्रीभरतजीको देख रहा है॥ ५॥ फिर धीरज धरकर उनके चरणोंकी पुनः वन्दना करके हाथ जोड़कर प्रेमसहित विनती करने लगा॥ ६॥ कुशलके मूल आपके चरणकमलोंको देखकर मैंने तीनों कालोंमें अपना कुशल मान लिया है॥ ७॥ प्रभो! अब आपके परम अनुग्रहसे करोड़ों कुलों (पीढ़ियों) सहित मुझे मंगल प्राप्त हो गया॥ ८॥

नोट—१ *'राम सखहि मिलि भरत सप्रेमा।…'* इति। *'सप्रेमा'* वही है जो ऊपर कह आये हैं कि *'करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ। मनहुँ लषन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ॥'* (१९३) *'भेंटत भरत ताहि अति प्रीती।'* इससे जनाया कि गाढ़ आलिङ्गन किया, देरतक उसे हृदयसे लगाये रहे। यथा—**'शीघ्रमुत्थाप्य भरतो गाढमालिङ्ग्य सादरम्।'** (अ० रा० २। ८। २२)

नोट—२ *'पूछी कुसल सुमंगल खेमा'* इति। यहाँ कुशल, सुमङ्गल और क्षेम तीन शब्द आये हैं। इसपर महानुभावोंने ये विचार लिखे हैं—(क) कुशल मङ्गल क्षेम पर्यायवाची शब्द हैं। यथा—**'अमरकोशे, 'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्। भावुकं भविकं भव्यं कुशलं क्षेममस्त्रियाम्॥'** अत्यन्त प्रेमके कारण अथवा उसे अत्यन्त कुशलके योग्य समझकर तीनोंको एक साथ कहा। (रा० प्र०) अथवा, (ख) तीन संख्या बहुवचन है। तीन बारसे बारम्बार पूछना जनाया। बारम्बार पूछना अति सम्मान है। कुशल तो है! सुमङ्गल तो है! क्षेम तो है! इस तरह पूछा। (पं०) अथवा, (ग) मन, वचन और कर्म तीनोंका कुशल पूछना जनाया। अर्थात् तीनोंसे तुम श्रीरामजी और उनके भक्तोंकी सेवामें लगे रहते हो, कोई विक्षेप तो नहीं होता। (पं)) अथवा, (घ) इन तीनोंसे उसको ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके समान ऊँचा मानकर तीन शब्दोंसे कुशल पूछा जो शब्द पृथक्-पृथक् एक-एक वर्णके लिये प्रयुक्त किये जाते हैं, यथा—**'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च—इति मनुः॥'** इसको ब्राह्मण पदवी दी क्योंकि ब्रह्मवेत्ता है—*'राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'*; क्षत्रिय पदवी दी क्योंकि रामसखा है और वैश्यपदवी क्रियादिक सम्बन्धसे। *'अनामय'* का अर्थ मङ्गल ले लें। शूद्र पदवी इसकी हटा दी। (पं०) (वैराग्य संदीपनीमें भी कहते हैं—*'जदपि साधु सब ही बिधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना॥'* (४१), *'तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम। ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥'* (३८) अ० रा० में *'अनामय'* शब्दसे कुशल पूछा है। यथा—**'पृष्ट्वानामयमव्यग्रः।'** (२। ८। २२) (ङ) कुशल अर्थात् अपने कर्तव्यमें कुशल हो, मङ्गल अर्थात् श्रेयकी वृद्धि होती हैं और उसका क्षेम अर्थात् रक्षा बनी चली जाती है। (पु० रा० कु०) अथवा, (च) सबका कुशल शब्दसे राष्ट्र, मित्रों और वनोंका भी कुशल सूचित कर दिया। यथा—***'अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च।'*** (वाल्मी० २। ५०। ४२), शरीरकी आरोग्यता, राज्यकी रक्षा। (छ) पं० विजयानन्द त्रिपाठी लिखते हैं कि कुशल, मङ्गल और क्षेम यद्यपि पर्यायवाची समझे जाते हैं, फिर भी उनमें सूक्ष्म भेद है जो आज भी प्रयोगमें देखे जाते हैं। कुशलमें निर्विघ्नताका भाव है, मङ्गलमें इष्ट-प्राप्तिका भाव है और क्षेममें प्राप्तके संरक्षणका भाव है। भरतजीने निषादराजसे तीनों पूछा और निषादराज तीनोंका क्रमसे उत्तर देता है। कुशलके उत्तरमें कहता है *'कुसलमूल पद पंकज पेखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥'* और मङ्गलके उत्तरमें कहता है कि *'अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे। सहित कोटि कुल मंगल मोरे॥'* क्षेमके उत्तरमें कहता है कि *'राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें॥'* भाव यह कि तब मैं भुवन-भूषण बना और आजतक बना हूँ।

दीनजी—*'सब मंगल मोरे'*=सब मङ्गल मेरे हो चुके। भाव कि मेरा तो कुशल ही है, आपकी इस कृपासे करोड़ों पीढ़ियोंतक मेरे वंशमें मङ्गल होता रहेगा—सदैव सब लोग कहेंगे कि यह उसी निषादका वंश है जिसे भरतने भेंटा था।

नोट—३ *'देखि भरत कर सील सनेहू…'* इति। (क) बड़े होकर छोटेका अति आदर-सम्मान करना शील है। शीलका अर्थ स्वभाव भी है। शील केवट और नीच जातिसे मिलनेमें और स्नेह रामजी

एवं रामदासोंमें। (ख) *'निषाद'* पद देकर जनाया कि यह हिंसक जीव है। इसपर भी श्रीभरतजीके शील और स्नेहका प्रभाव पड़ा कि तनवदनकी सुध जाती रही, स्वयं मग्न हो गया। (ग) निषाद छींक होनेपर सावधान हो *'मित्र अरि मध्य गति' 'भरत सुभाउ सील'* और *'सनेह सुभाय सुहाए'* के पता लगानेको चला था—(१९२। १९३ (८)। यहाँ 'सील' और 'स्नेह' दोनों देख लिये; अब अरि मध्यकी बात ही न रह गयी। जिस कार्यसे आया था वह तो आते ही हो गया। और साथ ही विशेषता यह हुई कि आप भी उनके प्रेमके बलिहारी हो गये—*'गई दधि बेचन आपुइ हाथ बिकानी।'* और अपनी करनीपर बड़ा संकोच हुआ, लज्जित हुए।

नोट—४ *'सकुच सनेह मोदु मन बाढ़ा…'* इति। (क) 'संकोच' हुआ क्योंकि एक तो अपने सब विचार गलत निकले जो मनमें उठे थे—*'है कछु कपट भाउ मन माहीं,' 'नहिं बिष बेलि अमिय फल फरहीं'*; फिर विचार उठनेपर पहले ही आकर जाँच न कर ली, लड़नेकी तैयारी कर दी और *'जुझाऊ ढोल'* बजानेकी आज्ञा दे दी थी, बड़ा अनर्थ हो गया होता।' तीसरे, यहाँ देखा कि उनके प्रेमके पासंग भी हम नहीं ऐसे प्रेमी भक्तपर हमने दोषारोपण किया। चौथे कि कहाँ मेरा कर्तव्य और कहाँ इनका शील-स्नेह कि मुझे अंक भरकर मिले। मुझसे बड़ा पाप हुआ। (ख) **'स्नेह'** भरतजीमें उनका शुद्ध भागवत प्रेम-सम्बन्धी आचरण देखकर हुआ, एवं उनका स्नेह अपने ऊपर देखकर मनमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी। आनन्द ऐसा बढ़ा कि खड़े-खड़े टकटकी लगाये उनको देखता रह गया। कुशल-प्रश्नका उत्तर भी प्रेमानन्दके मारे शीघ्र न दे सका। (ग) पंजाबीजीका मत है कि **'मोदु'** इससे हुआ कि इनके संयोगसे फिर श्रीरामजीके दर्शन होंगे। इनका रूप श्रीरामजीका-सा देखकर एकटक देखने लगा। यथा—*'भरतु राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥'* (१। ३११। ६) (रा० प्र०) अथवा, मोद इससे हुआ कि अच्छा हुआ मैं इनसे आ मिला, इनको मालूम भी न हुआ। (पां०)

☞ वाल्मी० रा० का निषादराज केवल मिलापसे श्रीभरतजीका शील-स्नेह न जान पाया, इसीसे उसने अपना संदेह श्रीभरतजीसे कह डाला है—**'इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे।'** (२। ८५। ७) निषादराजके मनमें संकोच, स्नेह और आनन्द तीनों भाव एक साथ उदय हुए, अतः यहाँ प्रथम समुच्चय 'अलङ्कार' है।

नोट—५ *'धरि धीरजु पद बंदि बहोरी…'* इति। (क)—ऊपर कहा कि *'भा निषाद तेहि समय बिदेहू'*; अतः उसका सावधान होना कहा—*'धरि धीरज'।* चरणोंको प्रणाम और बड़ोंसे हाथ जोड़कर विनती करना, उनके प्रश्नका उत्तर देना, यह शिष्टाचार है, भले आदमियोंकी रीति है। ये राजकुमार हैं और परम भागवत भी। किसीका मत है कि अपराध क्षमाहेतु अथवा राम-समान रूप जानकर दुबारा प्रणाम किया।

(ख) पु० रा० कु०—भरतजीने कुशल-प्रश्न किया और निषाद विदेह हो गया, जवाब कौन देता? सातवें तुक (चरण) में जाकर उत्तर देना लिखा गया जब वह सावधान हुआ।

नोट—६ *'कुसलमूल पदपंकज पेखी।…'* इति। (क) इसका अर्थ दो प्रकारसे लोगोंने किया है। एक तो अर्थमें दिया गया, दूसरा यह कि कुशलके मूल रामचन्द्रजीके चरण-कमलोंको देखकर मैं तीनों कालोंमें अपनी कुशल मानता हूँ और अब आपने परम कृपा की इससे मैं करोड़ों पीढ़ियोंसहित अपना मङ्गल मानता हूँ। इस प्रकार भगवत्से भागवतकी महिमा विशेष दिखायी—(पं०) ऐसा ही भरद्वाजजीने आगे कहा है—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥ तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥'* (२७०। ४-५) रामजीने अनुग्रह किया और आपने परम अनुग्रह। उन्होंने कुशल पूछी और आपने कुशल-सुमङ्गल-क्षेम पूछा।

प० प० प्र०—स्वामीजी पंजाबीजीसे सहमत हैं। वे कहते हैं कि *'पेखी'* और *'लेखी'* से भूतकाल सूचित होता है और *'अब'* से वर्तमानकाल। भरतजीकी विशेषता बहुत जगह स्पष्ट भी कही गयी है। जैसे, *'तस मग भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात।'* (२१६), *'जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥' 'ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भवरोगू॥'* (२१७। १-२) इत्यादि।

(ख) पहले अर्थके अनुसार यह भाव है कि आपके चरणकमलोंके दर्शनसे तीनों कालमें मेरी कुशल हुई और आपके *'परम अनुग्रह'* से मेरी अगणित पीढ़ियोंका मङ्गल हुआ। अभिप्राय यह कि इससे बढ़कर कुशल-मङ्गल क्या हो सकता है कि परमभागवत रामभ्राता हमारे राजाके पुत्रने घरपर आकर दर्शन ही नहीं दिये वरन् हमको ब्राह्मणोंके समान आदर दिया। यहाँ व्यङ्गार्थ वाच्यार्थके बराबर होनेसे 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग्य' है।

पु० रा० कु०—*'तिहुँ काल'* अर्थात् भूतकालमें था, इससे आपका दर्शन वर्तमानमें हुआ और इससे अब भविष्यमें भी होगा, यह लेखा लगा।

पं०—*'सहित कोटि कुल'* इति। भाव कि श्रीरामजीकी सेवा तो कुछ लोगोंने की थी और आपकी सेवा परिवार, पुरजन सब मिलकर करेंगे यह समझकर *'सहित कोटि कुल'''* कहा। वा भागवतकी महिमा दिखायी।

वै०—भाव कि यदि मैं दर्शनको न आता तो वैरभावके कारण भागवतापराध होनेसे तीनों कालकी कुशल नष्ट हो गयी होती, यह केवल आपके दर्शनका फल है कि बच गया।

दो०—समुझि मोरि करतूति कुलु प्रभु महिमा जिअ जोइ।
जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ॥ १९५॥
कपटी कायरु कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥ १॥
राम कीन्ह आपन जब ही तें। भयउँ भुवन-भूषन तबहीं तें॥ २॥

अर्थ—मेरी करतूत और मेरा कुल समझकर, और प्रभुकी महिमाको मनमें विचार-देखकर जो रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी सेवा न करे वही संसारमें विधाताद्वारा ठगा गया है अर्थात् वह बड़ा अभागा है॥ १९५॥ मैं कपटी, कादर, दुर्बुद्धि, नीचजाति, सब प्रकारसे लोक और वेद दोनोंसे बाहर हूँ॥ १॥ (ऐसे मुझको भी) जबसे श्रीरामचन्द्रजीने अपनाया, तभीसे मैं सब लोकोंमें भूषणरूप हो गया॥ २॥

नोट—१ *'समुझि मोरि करतूति'''* इति। (क) मिलान कीजिये—*'तुलसी जाके होइगी अंतर बाहर दीठि। सो कि कृपालुहि देइगो केवट पालहि पीठि॥'* (दो० ४९) (ख) *'करतूति'* करनी, चोरी, हिंसा और *'कुलु'* अधम महानीच जिसकी परिछाहीं लोग नहीं छूते। कहाँ तो ऐसा मैं इसको समझें, विचारें और कहाँ प्रभु कि जिनकी सेवाके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि तरसते हैं, जिनको वे ध्यानमें भी नहीं पाते, जिनकी वे सदा वन्दना और ध्यान आदि करते रहते हैं फिर भी प्रत्यक्ष दर्शन और चरणसेवा नहीं पाते, जिनकी बड़ाईसे ही त्रिदेव बड़े हुए हैं; अन्य तुच्छ देवताओंकी कौन कहे, वे ही प्रभु मुझ अधमको गले लगाकर मिले। यथा—*'हरि-हरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई॥ ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहूँ भेंट्यो केवट उठि॥ भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सनेह सिथिल सरीर सो।'* (वि० १३५), *'ऐसे राम दीन हितकारी। हिंसारत निषाद तामस बपु पसु समान बनचारी। भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस नहिं कुल जाति बिचारी॥'* (१६६) *'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।'* (६। ६२। ५) *'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥'* (६। २२। १) *'देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा।'* (१। ५४। ७-८) इत्यादि। (ग) *'प्रभु महिमा जिय जोई'* इति। भाव कि प्रभुकी महिमाको हृदयके नेत्रोंसे देखें कि ऐसे मुझ कपटी, कायर, दुर्बुद्धि और नीचको चौदहों भुवनोंमें भूषणरूप बना दिया कि श्रीभरतजी गले लपटकर मिले, देवता और मनुष्य सब ही आज मेरे भाग्यको देखकर ललचा रहे हैं, यह जीसे देखकर सबको विश्वास होना चाहिये कि जब ऐसे नीचको अपनाया तो हमें क्यों न अपनायेंगे और उनका ही भजन करना चाहिये, उनके चरणोंकी सेवा करनी चाहिये। एक तो यह समझ देखकर कोई विमुख होगा नहीं और यदि हो तो समझना चाहिये कि विधाताने उसे ठग लिया।

—'*कर ते डारि परसमनि देहीं।*' (घ) विचार करनेका फल बताया कि विचार करनेवाला अवश्य भजनमें लग जायगा और उससे जीवनका फल पायगा। विनयमें उपर्युक्त उद्‌धृत प्रसङ्गमें भी विचारका फल कहा गया है। मिलान कीजिये—'*खग सबरि निसिचर भालु कपि किए आपु तें बंदित बड़े। तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े॥ स्वामीको सुभाउ कह्यो सो जब उर आनिहै। सोच सकल मिटिहैं राम भलो मन मानिहैं॥ भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। तत्काल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥ जपि नाम करहिं प्रनाम कहि गुन ग्राम रामहिं धरि हिये। बिचरहि अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किये॥*' (वि० १३५) इसमें जो अन्तमें बताया है यही भजन है। यदि यह महिमा देखकर भी उसने भजन न किया तो फिर वह किसीके भी उपदेशसे सुधर नहीं सकता। यथा—'*बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों तिहिं को उपदेसै ज्ञान॥*' (वि० १९३) भजन न करना ही विधिद्वारा ठगा जाना है। यथा—'*जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥*' (१। २०४। २) (ङ) दोहेके पूर्वार्द्धमें प्रथम विषम अलङ्कार है। दोहेमें 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है।

२—'*भयउँ भुवन-भूषन*' अर्थात् पहले दूषणरूप था, पृथ्वीके लिये भार था और अब प्रभुके अपनानेसे मैं नीच निषादसे रामसखा हो गया। विनयमें भी कहा है—'*जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्‌यो। सोइ सुसील पुनीत बेदबिद बिद्या गुननि भर्‌यो॥*' (२३९)

पु० रा० कु०—(क) भाव यह कि मैं तो प्रत्यक्ष प्रमाण प्रभुकी महिमा और '*कपटी कायरु कुमति कुजाती*' का हूँ; कोई वेद-पुराण पढ़कर प्रमाण देनेकी जरूरत नहीं। हमको देखकर बस विचार कर लो। (ख) '*कपटी कायरु कुमति कुजाती*''', इति। भीतर कुछ बाहर कुछ, यह कपट है। कपटीको कोई उपदेश भी नहीं देता जिससे उसके आचरण सुधर जायँ। पुनः, कोई उपदेश दे भी तो व्यर्थ जाय क्योंकि मैं कायर हूँ। परिश्रम करके उपदेशपर चलकर अपनेको सुधार लूँ सो भी नहीं हो सकता। उसपर न बुद्धि ही अच्छी और न जाति। सब प्रकार बिगड़ा-बिगड़ाया हूँ, बननेकी एक बात नहीं।

देखि प्रीति सुनि बिनय सुहाई। मिलेउ बहोरि भरत लघु भाई॥ ३॥
कहि निषाद निज नाम सुबानी। सादर सकल जोहारी रानी॥ ४॥
जानि लषन सम देहिं असीसा। जियहु सुखी सय लाख बरीसा॥ ५॥
निरखि निषाद नगर नर नारी। भये सुखी जनु लषनु निहारी॥ ६॥
कहहिं लहेउ एहि जीवन लाहू। भेंटेउ रामभद्र भरि बाहू॥ ७॥

शब्दार्थ—'जोहार'=अभिवादन, वन्दन, प्रणाम, नमस्कार। सय=सौ।

अर्थ—(निषादराजकी) प्रीति देखकर और सुन्दर विनय सुनकर तब भरतजीके छोटे भाई उनसे मिले॥ ३॥ निषादराजने अपना नाम कहकर सुन्दर (विनम्र) वचनोंद्वारा आदरपूर्वक सब रानियोंको प्रणाम किया॥ ४॥ लक्ष्मणजीके समान जानकर सब आशीर्वाद देती हैं कि सौ लाख वर्ष तुम सुखपूर्वक जियो॥ ५॥ अवधपुरीके स्त्री-पुरुष निषादको देखकर ऐसे सुखी हुए मानो लक्ष्मणजीको ही देख लिया हो॥ ६॥ सब कहते हैं कि इसने जीवनका लाभ पाया, क्योंकि कल्याणस्वरूप श्रीरामचन्द्रजीसे यह और श्रीरामभद्रजी इससे बाहु भरके (पूरी भुजा फैलाकर) हृदयसे लगाकर भेंटे हैं॥ ७॥

नोट—१ '*मिलेउ बहोरि भरत लघु भाई*' प्रथम श्रीरामजीने अंगीकार किया, फिर भागवत भरतने, तब भागवताश्रयी शत्रुघ्नजीने (पं० रा० कु०)। जिसको श्रीरामजी अपनाते हैं उसको फिर सभी अपनाते और आदर देते ही हैं। '*तुलसी राम जो आदर्‌यो खोटो खरो खरोइ।*' (दो० १०६)

नोट—२ '*जानि लषन सम*''' इति। (क) श्रीभरतजी जिस भावसे मिले वह पूर्व लिख आये—'*मनहु लषन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ।*' (१९३) माताओंने भी उसी भावसे देखा। भरतजी लक्ष्मण-

समान जानकर प्रेमसे मिले जैसे लक्ष्मणजीसे मिलते हैं। यथा—*'भूरि भाय भेंटे भरत लछिमन'''।'* (२४१) *'लछिमन भरत मिले तब परम प्रेम दोउ भाइ।'* (७। ५) रानियाँ माताके समान हैं। अतः उन्होंने आशीर्वाद दिया। (ख) *'जिअहु सुखी सय लाख बरीसा'* अर्थात् दीर्घायु हो। विशेष *'जिअहु जगतपति बरिस करोरी।'* (२। ५। ५) में देखिये। (ग) अवधवासियोंने भी श्रीलक्ष्मणजीके भावसे निषादको देखा—*'भये सुखी जनु लषनु निहारी।'* श्रीलक्ष्मणजी राजकुमार हैं, अतः अवधवासियोंके स्वामिपुत्र हुए इससे उनका देखकर सुखी होना कहा। (घ) *'रामभद्र'*—रामजी जो कल्याणकी मूर्ति हैं। अतएव इनसे जन्मका फल पाया (काव्यलिङ्ग अलङ्कार) *'भेंटेउ भरि बाहू'*—*'एहि तौ राम लाइ उर लीन्हा।'* (१९४। ६) देखिये। यथा—*'जेहि कर कमल उठाय बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंटेउ'* (विनय० १३८), *'भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस'''।'* (वि० १६६)

सुनि निषाद निज भाग बड़ाई। प्रमुदित मन लइ चलेउ लेवाई॥ ८॥

दो०—सनकारे सेवक सकल चले स्वामि रुखु पाइ।
घर तरु तर सर बाग बन बास बनाएन्हि जाइ॥ १९६॥

शब्दार्थ—**'सनकारे'** (सैन करना)=संकेत किया, इशारेसे बुलाया, कामके लिये इशारा किया, यथा—*'तुलसी सभीतपाल सुमिरे कृपालु राम समय सुकरुना सराहि सनकार दी।'* बास=निवासस्थान।

अर्थ—अपने भाग्यकी बड़ाई सुनकर निषादराज प्रसन्न मनसे सबको लिवा ले चले॥ ८॥ सब सेवकोंको इशारेसे जना दिया। वे सब स्वामीका रुख पाकर चले और घरोंमें, वृक्षोंके नीचे, तालाबोंपर, बागों और वनोंमें जाकर ठहरनेके योग्य स्थान बनाये (अर्थात् स्थानोंको झाड़-बुहार साफकर साथरी आदि बनाकर बिछा दिये)॥ १९६॥

नोट—१ *'सनकारे सेवक'''।'* इति।—इशारा या संकेत (जो पहले ही सम्भवतः बता रखा था) दिया जिससे वे जान जायँ कि वे श्रीरामजीको लेने जा रहे हैं, लड़ाई करने नहीं, जो बुड्ढेने कहा था—*'रामहिं भरत मनावन जाहीं'* वही ठीक है।

नोट—२ *'घर तरु तर सर'''।'*—रानियोंके लिये घर, मुनियोंके लिये वृक्षके तले, प्रजाके लिये बगीचे, बैल, हाथी, घोड़े, ऊँट आदिके लिये वनमें रहनेके लिये स्थान साफ किये या बनाये। (पु० रा० कु०)

नोट—३ यहाँ इशारेसे काम लिया कि भरतजीको न मालूम हो कि हमने लड़नेकी तैयारी की थी, नहीं तो डूब मरनेकी बात होगी। यहाँ 'युक्ति अलङ्कार' है। पर भरतजी राजकुमार ही ठहरे, राज्यनीतिमें बड़े निपुण हैं, वे सब जान गये, यह बात उनके चित्रकूट-भाषणसे सिद्ध होती है, यथा—*'बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू॥'* (२६१। ६) यद्यपि इस वचनसे उन्होंने गुहके श्रीरामप्रेमकी प्रशंसा ही की है।

शृंगबेर पुर भरत दीख जब। भे सनेह सब* अंग सिथिल तब॥ १॥
सोहत दिए निषादहि लागू। जनु तनु† धरें बिनय अनुरागू॥ २॥
एहि बिधि भरत सेनु सब संगा। दीखु जाइ जग पावनि गंगा॥ ३॥
रामुघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू॥ ४॥

---

* राजापुर, काशिराज, १७२१ और भा० दा० की प्रतिमें 'सब' है। पं० रा० गुलाममें 'बस' है।

† राजापुर और १७२१ वाली प्रति एवं भा० दासजीने 'धनु' पाठ दिया और काशिराजमें भी यही है। रा० गु० द्वि०, वन्दन पाठकजीने 'तनु' पाठ दिया है। 'धनु' पाठसे रा० प्र० कार यह अर्थ करते हैं—'निषादको लागू दिये अर्थात् कन्धेपर हाथ दिये सोह रहे हैं मानो विनय और अनुराग धनुष धारण किये सोहते हैं। यहाँ विनयरूप निषाद और अनुरागरूप श्रीभरतजी हैं। गलबाँही धनुष है। भरतजीका निषादका सहारा दिये चलना उत्प्रेक्षाका विषय है।'

शब्दार्थ—लागू=सम्बन्ध, सहारा, लगाव। दिए निषादहि लागू=हाथ कन्धों या गर्दनपर रखकर निषादका सहारा लिये मिले हुए, यथा—*'रामसखा कर दीन्हे लागू'।* (२१६। ४)।

अर्थ—जब श्रीभरतजीने शृङ्गवेरपुरको देखा तब उनके सब अंग प्रेमसे शिथिल हो गये॥ १॥ वे निषादराजके कन्धेपर हाथ दिये सहारा लिये चलते ऐसे शोभित हो रहे हैं मानो विनय और अनुराग ही शरीर धारण किये हुए शोभित हों॥ २॥ इस प्रकार भरतजीने सब सेनाके साथ जाकर जगपावनी * गङ्गाजीका दर्शन किया॥ ३॥ श्रीरामघाट (जहाँपर श्रीरामजीने संध्या और स्नान किया था) को प्रणाम किया। उनका मन (आनन्दमें ऐसा) मग्न हो गया मानो श्रीरामजी ही मिल गये॥ ४॥

नोट—१ *'शृंगबेर पुर भरत दीख जब…'* इति। यहाँ दो उपवासपर फल खाये, जटा बनाये, रथ छोड़ा, विश्राम किया, सुमन्त्रको लौटाया, इत्यादि समस्त बातें स्मरण हो आयीं, इसीसे शरीर सर्वाङ्गसे शिथिल हो गया। (रा० प्र०)

पु० रा० कु०—*'सोहत दिए निषादहि लागू।'* सारा शरीर प्रेमके मारे शिथिल पड़ गया है, वे विह्वल हो गये हैं, चलनेका सामर्थ्य नहीं, पैर डगमगाते हैं अतएव निषादराजके कन्धेपर हाथ धरकर सहारा लिये चल रहे हैं। इसकी उत्प्रेक्षा करते हैं।

यहाँ विनयका शरीर निषाद है क्योंकि यह अपनी दीनता प्रकट कर रहा है, अपने दोष कह रहा है—*'कपटी कायरु कुमति कुजाती।'* और, अनुरागका तन भरत हैं क्योंकि प्रेमसे ही इनके अङ्ग शिथिल हैं। जिसको विनय और अनुरागकी मूर्त्ति देखना हो वह इन्हें देख ले। भाव यह कि विनती और अनुराग सर्वाङ्गमें परिपूर्ण है। (सभीने इन्हें रामप्रेमकी मूर्ति जाना है। अवधपुरवासियोंका वचन है कि *'राम प्रेम मूरति तनु आही।'* (१८४। ४) भरद्वाजजीने भी कहा है *'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥'* (२०८। ८) विनय और अनुराग तनधारी नहीं होते, यह कविकी कल्पना है। अतः यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है)।

करहिं प्रनाम नगर नर नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी॥ ५॥
करि मज्जनु माँगहिं कर जोरी। रामचंद्र पद प्रीति न थोरी॥ ६॥
भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू॥ ७॥
जोरि पानि बर माँगउँ एहू। सीयरामपद सहज सनेहू॥ ८॥

दो०—एहि बिधि मज्जनु भरतु करि गुर अनुसासन पाइ।
मातु नहानीं जानि सब डेरा चले लवाइ॥ १९७॥

शब्दार्थ—**ब्रह्ममय बारि**=ब्रह्मरूप जल, ब्रह्मद्रव। भगवान्‌के सर्वाङ्ग चिदानन्दमय हैं अतएव उनके नखोंसे निकला हुआ जल भी भगवद्रूप ही माना जायगा; इसीसे *'ब्रह्ममय'* कहा। **नहानीं**=स्नान की हुई, स्नान कर चुकीं।

अर्थ—नगरके स्त्री-पुरुष प्रणाम करते हैं और ब्रह्ममय गङ्गाजलको देख-देखकर प्रसन्न होते हैं॥ ५॥ गंगाजीमें स्नान करके हाथ जोड़कर वरदान माँगते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें हमारा बहुत प्रेम हो† ॥ ६॥ भरतजीने कहा कि हे सुरसरि! आपकी रेणु सबको सुखद है और सेवकको तो कामधेनुके

* प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ 'जग' का अर्थ गर्हित वा निन्दित है। संतोंके चरणस्पर्शसे गङ्गा स्वयं पवित्र होती हैं अतः जगका अर्थ लोक वा विश्व करना उचित नहीं। इसमें 'अति व्याप्ति दोष होगा।'

† इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि 'हमारा प्रेम कभी कम न हो'। 'न थोरी' पद बहुत जगह आया है—'अधिक' अर्थमें। १९९ (५) 'सिथिल सरीर सनेह न थोरे।'

समान समस्त सुखोंको देनेवाली है॥७॥ मैं हाथ जोड़कर यही वर माँगता हूँ कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें मेरा स्वाभाविक स्नेह हो॥८॥ इस प्रकार भरतजी स्नान करके गुरुजीकी आज्ञा पाकर और यह जानकर कि सब माताएँ स्नान कर चुकीं, डेरा लिवाकर चले॥१९७॥

नोट—१ *'ब्रह्ममय बारि'* अर्थात् ब्रह्मद्रव। ब्रह्म ही गङ्गा-रूपसे जीवोंपर करुणा करके अवतरित हुआ है। यह कवितावलीके इस उद्धरणसे स्पष्ट है *'ब्रह्म जो ब्यापक बेद कहैं गम नाहीं गिरा गुन ज्ञान गुनी को। जो करता भरता हरता सुर साहिब साहिब दीन दुनी को॥ सोइ भयो द्रवरूप सही जु है नाथ बिरंचि महेस मुनी को। मानि प्रतीति सदा तुलसी जल काहे न सेवत देवधुनी को॥'* (७। १४६) (ख)—यहाँ उपमान ब्रह्मका प्रधान गुण आनन्दको जलपर आरोप करना 'निरंगरूपक अलंकार' है। (वीर)

टिप्पणी—१ *'करहिं प्रनाम नगर नर नारी'''* इति। ब्रह्ममय जलको देखकर सब लोग आनन्दित हैं। इनके दर्शनसे अवधवासियोंको ब्रह्मकी प्राप्ति दिखायी और भरतजी तो श्रीरामघाटको देखकर ऐसे मग्न हो गये मानो श्रीरामजी ही मिल गये। पुरवासी मुदित हुए, ये मग्न हुए। दोनोंमें भेद दिखाकर सिद्ध किया कि ब्रह्म-सुख (प्राप्तिके) से रामप्राप्तिमें अधिक सुख है, तभी तो जनक महाराजको रामदर्शन होते ही *'बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा', 'अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौ गुन दिए॥'* (जानकीमंगल २५) *'देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ। बँधेउ सनेह बिदेह बिराग बिरागेउ। बिषय बिमुख मन मोर सेइ परमारथ। इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़े स्वारथ॥'* (२८) अवधवासियों और भरतजीमें इतना बीच (अन्तर) है। (ख) प्रभु सर्वत्र व्यापक हैं, प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं, यथा—*'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा॥'* यहाँ भरतका अतिशय प्रेम घाटपर देखकर श्रीरामजीकी मूर्ति उनके हृदयमें आ गयी, अतएव उनके सम्बन्धमें *'मिले जनु रामा'* कहा।

नोट—२ *'भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू'''* इति। (क) भरतजी श्रीरामजीके ध्यानमें जबतक मग्न रहे तबतक बीचमें, अवधवासियोंका गङ्गाजीको प्रणाम, उसमें स्नान और उनसे वरदान माँगना वर्णन किया। इतना कर चुकनेपर भरतजी सावधान हुए। तब देवनदीकी स्तुति करने लगे कि आपकी रज सेवकको समस्त प्रकारके सुख देनेके लिये सुरधेनु कामधेनुके समान है, जो कुछ वह इच्छा करे वही पावे, पुनः, सबको सुखद है और सेवकको तो कामधेनु है ही। (ख) *'सकल सुखद सेवक सुरधेनू'* से *'ब्रह्ममय बारि'* शब्दोंको चरितार्थ किया। श्रीरामजी ब्रह्म हैं और *'प्रनत काम सुरधेनु कलपतरु।'* (७।३५।२) तथा *'सेवत सुलभ सकल सुखदायक'* हैं। वे ही गुण ब्रह्मद्रवमें हैं। (प० प० प्र०)

नोट—३ *'सीय राम पद सनेहू'* इति। (क) 'सहज सनेह'=उत्तम सहजा वृत्ति। जैसे स्वाभाविक ही विषयोंमें मन लगा रहता है, कामीको स्त्री, चातकको स्वाती, लोभीको धन, मछलीको जल, मनुष्यको सुख-जीवन जैसे स्वाभाविक प्रिय वैसा ही प्रेम सहज प्रेम है। यथा—*'जेहि सुभाय विषयन्हि लगेउ तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै।'* (वि० २६८) (ख) निषादराज 'सहज सनेही' हैं, यथा—*'सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥'* (८८।४) *'सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू॥'* (१०४। ७) अतः श्रीभरतजीके *'सीय राम पद सनेहू'* वर माँगनेसे उनके हृदयका भाव यह प्रतीत होता है कि निषादराजके हृदयमें 'सहज सनेह' है और मैं भाई हूँ तब भी मेरे हृदयमें वैसा स्नेह नहीं है अतएव वे श्रीरामरूप ब्रह्मवारि गंगाजीसे 'सहज सनेह' माँग रहे हैं। इससे श्रीभरतजीकी दीनता प्रकट हो रही है। नहीं तो वे तो श्रीरामानुरागकी मूर्ति ही हैं। (प० प० प्र०)

नोट—४ *'एहि बिधि मज्जनु भरतु करि गुर'''* इति।—*'गुरु अनुसासन पाइ'* दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लग सकता है—भरतजीमें और मातामें भी और डेरा ले जानेमें भी। स्नान और डेरा लिवा जाना दोनों आज्ञासे हुए।

जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा। भरत सोधु सबही कर लीन्हा॥ १॥
सुर* सेवा करि आयसु पाई। राममातु पहिं गे दोउ भाई॥ २॥
चरन चापि कहि कहि मृदु बानी। जननीं सकल भरत सनमानी॥ ३॥
भाइहि सौंपि मातु सेवकाई। आपु निषादहि लीन्ह बोलाई॥ ४॥

शब्दार्थ—डेरा=थोड़े कालके लिये निवास, ठहरनेका सामान, टिकनेका आयोजन, पड़ाव। '**सोधु**' (शोध)=खोज, ढूँढ़, जाँच-पड़ताल, खबर।

अर्थ—जहाँ-तहाँ लोगोंने डेरा डाला (ठहर गये), श्रीभरतजीने सबकी जाँच-पड़ताल कर ली (कि सब आ गये और आरामसे टिक गये)॥ १॥ फिर देवपूजन करके आज्ञा लेकर दोनों भाई कौसल्याजीके पास गये॥ २॥ चरण दबाकर और मीठी वाणी कह-कहकर भरतजीने सब माताओंका सम्मान किया॥ ३॥ फिर भाईको माताओंकी सेवा सौंपकर स्वयं निषादको बुला लिया॥ ४॥

वि० त्रि०—***'सुर सेवा करि'''दोउ भाई'*** इति। देवसेवा करके, आज्ञा पाकर कौसल्याजीके पास दोनों भाई गये। प्रश्न उठता है कि किसकी आज्ञा पाकर गये? सीधा अर्थ है कि कौसल्याजीकी आज्ञा पाकर। राजाओंके यहाँका कायदा है, बड़े हो जानेपर बेटा भी इत्तला कराकर आज्ञा पाकर ही माताके पास जाता है। यहाँ भी माताके डेरेमें भरतजी आज्ञा पाकर ही जा रहे हैं। ***'दोउ भाई'*** कहनेका भाव यह कि दोनों भाइयोंने कौसल्याजी तथा अन्य रानियोंके पैर दबानेमें भाग लिया। केवल कैकेयीकी सेवा भरतजी शत्रुघ्नको सुपुर्द करके आप साथ ही देखने चले। ***'कैकेयी जौ लौं जियत रही। तौ लौं भरत मातु सों मुख भरि भूलि न बात कही।'***

पं०—भरतजी अकेले गये, भाईको यहाँ छोड़ गये। कारण यह कि वे रामप्रेममें व्याकुल हो रहे हैं। उनको कुछ शान्ति श्रीरामवासस्थल आदि देखकर होगी और नीति अनुसार यहाँ भी किसीको छोड़ना जरूरी है। श्रीशत्रुघ्नजी भी सबके लड़के हैं और सबकी सेवा करने योग्य हैं। दूसरे, जैसे भरतजी परमभागवत वैसे ही शत्रुघ्नजी परमभागवताश्रयी, उनको भरतजीकी आज्ञामें ही सब प्रकार सुख है।

नोट—यहाँ प्रेमसे विह्वल होनेपर भी भरतजीकी सावधानता, गुरुभक्ति (जहाँ '**गुरु**' पाठ है), मातृभक्ति और इन सबसे बढ़कर रामभक्ति दिखायी है। सबकी खबर ले ली कि सब आकर ठहर गये, कोई पिछड़ तो नहीं गया यह सावधानता; सुर वा गुरुसेवा और उनकी आज्ञा पानेपर माताके पास जाना यह देवार्चन वा गुरुभक्ति हुई। कौसल्याजीके चरण दबाना, सबसे कोमल वाणीसे बोलकर सबका सम्मान करना और फिर छोटे भाईको उनकी सेवा सुपुर्द करना कि देखो किसीको कोई कष्ट न हो, सेवामें चूक न पड़े, यह मातृभक्ति हुई। आप निषादराजको स्वयं बुलाकर उनके साथ हुए। (प्र० सं०) श्रीरामजीके संदेशरूप

---

* ला० सीतारामजीने 'सुर' पाठ दिया है। और ना० प्र० सभाने यही पाठ दिया है एवं भा० दासजी और गौड़जीने। १७२१ की प्रतिमें भी 'सुर' है। रा० प०, पं० रा० गु० द्वि, वंदनपाठकजी, छक्कनलालजीने 'गुरु' पाठ दिया है। वीरकविजी लिखते हैं कि इस पाठसे आगेका 'आयेसु पाई' निरर्थक हो जाता है और प्रसंग यही पुकार रहा है कि गुरुसेवा करके माताकी सेवाको गये। गौड़जी कहते हैं कि 'गुर' पाठ ही ठीक है। 'गु' का लेख-प्रमादसे 'सु' बन जाना और फिर प्रतिलिपिकी अन्धपरम्पराका हो जाना सहज है। प० प० प्र० स्वामीजी इनसे सहमत हैं। श्रीपोद्दारजी लिखते हैं कि यद्यपि 'गुरु' पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है,''''किन्तु अर्थकी संगति 'सुर सेवा' पाठसे भी बैठ जाती है। श्रीरामजीके द्वारा 'पार्थिवपूजन' आदिका प्रसंग पहले भी आ चुका है—'पूजि पारथिव नायउ माथा'। बहुत सम्भव है भरतजीके पास देवताओंके विग्रह रहे हों, जिन्हें वे बराबर अपने साथ रखते हों और उनकी नियमित रूपसे प्रातःकाल सेवा-पूजा करते तथा उनकी आज्ञा लेकर सब कार्य करते हों। देवताओंसे प्रकटरूपमें आदेश मिलना भी कोई असम्भव बात नहीं कही जा सकती क्योंकि मानसमें देवप्रतिमाओं तथा गंगा आदिक नदियोंकी अधिष्ठात्री देवताओंसे आशीर्वाद आदि प्राप्त होनेके अनेकों प्रसंग आये हैं।' श्री वि० त्रि० जीकी टिप्पणी देखिये।

आज्ञामें कैसे तत्पर हैं, यह भी यहाँ प्रत्यक्ष देख लीजिये। श्रीरामका संदेश था कि *'पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेयेहु मातु सकल सम जानी॥'* (१५२।४) (प० प० प्र०)

चले सखा कर सों कर जोरें। सिथिल सरीरु सनेहु न थोरें॥५॥
पूँछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ॥६॥
जहँ सिय रामु लषनु निसि सोए। कहत भरे जल लोचन कोए॥७॥
भरत बचन सुनि भएउ बिषादू। तुरत तहाँ लइ गएउ निषादू॥८॥
दो०—जहँ सिंसुपा पुनीत तरु* रघुबर किय बिश्रामु।
अति सनेह सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु॥१९८॥

शब्दार्थ—'कोया' (सं० कोण)=आँखका कोना, आँखका ढेला। सिंसुपा=शीशम, अशोक (श० सा०)।

अर्थ—सखाके हाथ-से-हाथ मिलाये (पकड़े, जैसे एकको उँगलियाँ दूसरेकी उँगलियोंके बीचमें पड़ें) हुए चले। प्रेम कुछ थोड़ा नहीं है अर्थात् अत्यन्त स्नेह है जिससे शरीर शिथिल हो गया है॥ ५॥ श्रीभरतजी सखासे पूछते हैं कि वह स्थान दिखाओ—जिससे मेरे नेत्र और मनकी जलन कुछ ठंढी हो—जहाँ श्रीसीतारामलक्ष्मणजी रातको सोये थे—ऐसा कहते-कहते उनके नेत्रोंके कोनोंमें जल भर आया॥ ६-७॥ श्रीभरतजीके वचन सुनकर निषादराजको बड़ा दुःख हुआ। वह उन्हें तुरत वहाँ ले गया जहाँ पवित्र शीशम वा अशोक वृक्षके नीचे रघुवरने विश्राम किया था। श्रीभरतजीने अत्यन्त स्नेहसे आदरपूर्वक प्रणाम किया॥ ८। १९८॥

नोट—१ *'पूँछत सखहि…कोए'* इति। अ० रा० में भी ऐसा ही है—**'यत्र रामस्त्वया दृष्टस्तत्र मां नय सुव्रत। सीतया सहितो यत्र सुप्तस्तद्दर्शयस्व मे॥'……इति संस्मृत्य संस्मृत्य रामं साश्रुविलोचनः॥'** (२। ८। २५-२६) अर्थात् तुमने जहाँ श्रीरामजीको देखा था मुझे वहीं ले चलो। जहाँ वे श्रीसीताजीके सहित सोये थे वह स्थान मुझे दिखाओ।…श्रीरामजीका स्मरण करनेसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया।

टिप्पणी—१ *'नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ'* इति। *'नेकु'* का भाव कि हृदयका संताप तो तभी जायगा जब श्रीरामजीके दर्शन होंगे। हाँ, इससे कलेजा कुछ ठंढा अवश्य होगा। शान्ति श्रीरामदर्शन होनेपर हुई भी। यथा—*'गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥'* (२६७। २), *'लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभु नहि मन संदेहू॥'* (२६८। १), पहले मनका संताप मिटा। फिर शान्ति और सुख प्राप्त हुए—*'भरतहि भएउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू॥' '…नाथ भएउ सुख साथ गये को॥'* (३०७। ३, ६) *'भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥'* (३१६। ८) यहाँ *'नेकु जुड़ाऊ'* कहा क्योंकि पूर्व *'बिनु देखे रघुबीर पद जिय कै जरनि न जाइ'* ऐसा कह चुके हैं।

टिप्पणी—२ *'नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ'* इति। (क) पूर्व दरबारमें कहा था *'देखें बिनु रघुबीर पद जिय कै जरनि न जाइ।'* (१८२) अतएव स्थान देखकर नेत्र और हृदयको कुछ (नेकु) शीतल करेंगे। किस स्थानके दर्शनसे शान्ति होगी सो बताते हैं—जहाँ प्रभु रातमें साथरीपर सोये थे। यह कहते-कहते अनुरागमें भर गये, आँसू भर आये। अतएव *'तुरत तहाँ लइ गएउ निषादू।'* इनका दुःख उस कठोर हृदय जातिवालेसे भी न देखा गया।

टिप्पणी—३ *'पुनीत तरु'*—श्रीरामजीके विश्रामके सम्बन्धसे 'पुनीत' विशेषण दिया गया। *'जेहि तरुतर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई॥'* (११३। ७) और यहाँ तो *'रघुबर किय बिश्राम'* फिर इसकी पुनीतताका क्या कहना? यह स्थान श्रीरामचौरा नामसे प्रसिद्ध है।

नोट—२ ☞ इस प्रसङ्गमें देखते चलिये कि भक्त अपने परमप्रिय प्रभुके सम्बन्धसे छोटी-छोटी वस्तुओंका भी कैसा उच्च सम्मान करते हैं; क्योंकि ये प्रभुके स्मारक हैं; उनका स्मरण कराते हैं और इनसे कुछ देरतक

* तर- गी० प्रे०।

उनके साक्षात्कारका-सा सुख होता है। यथा—*'हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहु पारस पायउ रंका॥ रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥'* (२३८। ३-४)। उपासक अपने उपास्यकी कोई वस्तु पाता है तो उसे उपास्यका ही रूप मानकर उसका वैसा ही आदर-सम्मान करता है।

वि० त्रि०—*'जहँ सिंसुपा'''प्रनाम'* इति। *'सिंसुपा'* का अर्थ शीशम किया जाता है, परन्तु कोषमें मुझे 'सिंसिपा' का अर्थ अशोक मिला है। छायेदार वृक्ष अशोक ही है, सीसम नहीं है। वहाँ वृक्षोंका क्या घाटा था जो सरकारको सीसमके पेड़ तले टिकाया। पहले कह आये हैं कि *'तरु सिंसिपा मनोहर जाना।'* सो मनोहरतामें ख्याति अशोककी है सीसमकी नहीं।

(१) परमस्नेही रामजीने इस विटपके नीचे विश्राम किया है, इसलिये उसपर भरतजीकी प्रीति हुई, और (२) सरकारके निवाससे वह महातीर्थ हो गया था, अतः उसपर पूज्य बुद्धि हुई, इसलिये भरतजीने उसको (१) अतिस्नेहसे (२) अति आदरके साथ दण्ड-प्रणाम किया।

कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई*॥ १॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥ २॥
कनकबिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥ ३॥
सजल बिलोचन हृदय गलानी। कहत सखा सन बचन सुबानी॥ ४॥

शब्दार्थ—'रेख'=रेखाएँ, लकीरें, चिह्न। लाई-लाना=लगाना। यथा—*'करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।'* (१९३), *'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा।'* (१९४। ६) **'बिन्दु'**=छोटे टुकड़े, कण, कनी, बिन्दी, रवा, बून्दा, बिन्दुली—(रा० प्र०) 'दुइ **चारिक**'=कोई दो चार। मुहावरा है—*'कुछ थोड़ेसे'* के लिये।

अर्थ—कुशकी सुन्दर साथरी देख उन्होंने प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया॥ १॥ और प्रभुके चरणचिह्नोंकी रज आँखोंमें लगायी, (उस समयकी उनकी) प्रीतिकी अधिकता कहते नहीं बनती॥ २॥ कोई दो-चार कनकबिन्दु (जो श्रीसीताजीके वस्त्र या भूषणसे झड़कर गिर पड़े थे) देखे तो उनको सीताजीके समान समझा और मस्तकपर रख लिया॥ ३॥ दोनों नेत्रोंमें आँसू भरे हैं, हृदयमें ग्लानि है, वे सखासे सुन्दर वाणीमें वचन कह रहे हैं॥ ४॥

नोट—१ *'साथरी सुहाई'*—श्रीरामजीके विश्रामके सम्बन्धसे सुहाई कहा।

नोट—२ *'चरन रेख रज आँखिन्ह लाई'''।'*—नेत्रोंका संताप मिटानेके लिये आँखोंमें चरणचिह्नाङ्कित रजको लगाया। प्रेम इतना बढ़ा कि वर्णन नहीं हो सकता, कारण, यथा—*'रज सिर धरि हिय नयनन्ह लावहिं। रघुपति मिलन सरिस सुख पावहिं॥'*

नोट—३ *'कनकबिंदु दुइ'''* ' इति। (क) श्रीरामजीका चिह्न कहकर अब श्रीजानकीजीका चिह्न कहते हैं। साड़ीमें डाक, सलमा, सितारा, भोगली, गोखरू, लंदनी आदि लगे थे। वे रगड़से झड़ पड़े, या आभूषण पहुँची, बेंदी आदिमेंसे छोटे-छोटे दाने गिर गये। वाल्मीकीयमें भी **'कनकबिन्दवः'** है—**'मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयने शुभा। तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः॥'** (अ० ८८ श्लो० १४) और अध्यात्ममें कहा है कि कठोर साथरीके कारण आभूषणोंसे कुछ स्वर्णके छोटे-छोटे टुकड़े झड़ गये, यथा—**'सीताऽऽभरणसंलग्नस्वर्णबिन्दुभिरर्चितम्।'** (२।८।२८) (ख) इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीजानकीजी

* ना० प्र० में 'लाई' है। प्रायः साधारण बोलचालमें प्रदक्षिण शब्दके साथ केवल 'करना' क्रियाका ही प्रयोग होता है परन्तु विशेषतः कवितामें और अन्यत्र भी कहीं-कहीं इसके साथ 'लगाना' 'देना' आदि क्रियाओंका भी व्यवहार होता है, यथा—'उभय घरी महँ दीन्ह मैं सात प्रदच्छिन धाइ।' वैसा ही यह 'प्रदच्छिन जाई' का प्रयोग 'प्रदक्षिणा' करके इस अर्थमें हुआ है अथवा, यों अर्थ कर लें कि पास 'जाकर प्रदक्षिणा और प्रणाम किया।' प० प० प्र० स्वामीजी भी वही अर्थ लेते हैं कि जहाँसे शिंशपा वृक्षका दर्शन हुआ वहींसे दण्डवत् की और समीप जाकर उस साथरीकी प्रदक्षिणा की और प्रणाम किया।

वस्त्राभूषण धारण किये हुए वनको गयीं। यही वाल्मीकिजीका कथन है। वसिष्ठजीने उन्हें सब पहनवा दिया था। (ग) *'सीय सम लेखे'*। उपासक और प्रेमियोंकी रीति यहाँ दिखायी। श्रीसीताजी स्वर्णवर्णा हैं और ये भी स्वर्णबिन्दु हैं। पुनः ये सीताजीके हैं; अतएव उन्हें श्रीसीताजीके समान माना और वैसा ही आदर किया। (पं०)

नोट—४ *'सजल बिलोचन हृदय गलानी'''* इति। (क) *'एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥'* इस ग्लानि और वियोग-विरहसे करुणारस प्रबल हो आँसू आ गये। करुणामें वाणी बहुत कोमल हो जाती है। (ख) शृङ्गवेरपुरमें आनेसे श्रीसीता-राम-लक्ष्मण तीनोंके मिलापका-सा सुख भरतजीने पाया। यथा—*'रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भे मन मगन मिले जनु रामू॥'*, *'राखे सीस सीय सम लेखे।'* और *'मनहुँ लषन सन भेंट भइ' 'जानि लषन सम देहिं असीसा'*—(माताएँ) (पु० रा० कु०)

नोट—५ वाल्मी० रा० में भरतजी मन्त्रियों और माताओंके साथ *'साथरी'* के पास गये हैं। अ० रा० में गुहके साथ श्रीभरतजी वहाँ गये हैं। कनकबिन्दु देखकर उनका हृदय दुःखसे भर गया और वे विलाप करने लगे हैं। *'हृदय गलानी'* यह कि अत्यन्त सुकुमारी जनकदुलारी राजमहलमें कोमल बिछौनोंसे युक्त अति सुन्दर रत्नपर्यङ्कपर श्रीरघुनाथजीके साथ शयन किया करती थीं, वे ही मेरे दोषसे श्रीरामचन्द्रजीके साथ इस कुशाओंकी साथरीपर किस प्रकार क्लेशपूर्वक सोती होंगी? मैं समझता हूँ कि पतिकी शय्या सुखकारी होती है, अतएव सुकुमारी बेचारी सती सीताको इस स्थानपर भी दुःख मालूम नहीं पड़ा। मैं बड़ा ही क्रूर हूँ, मैं मारा गया, क्योंकि मेरे ही कारण अपनी स्त्रीके साथ ऐसी शय्यापर श्रीरामजी अनाथके समान सोते हैं। इत्यादि। अ० रा० के **'अहोऽतिसुकुमारी या सीता जनकनन्दिनी। प्रासादे रत्नपर्यङ्के कोमलास्तरणे शुभे॥ रामेण सहिता शेते सा कथं कुशविष्टरे। सीता रामेण सहिता दुःखेन मम दोषतः॥'** (२। ८। २९-३०) और (वाल्मी० २।८८) के **'मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी। सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली॥ हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम। ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥'** (१६-१७) का उपर्युक्त भाव *'हृदय गलानी'* से सूचित कर दिया है। यह बात आगे दोहेमें कही है।

श्रीहत सीय बिरह दुति हीना। जथा अवध नर नारि बिलीना*॥५॥
पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोगु जोगु जग जेही॥६॥
ससुर भानुकुल भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावति पालू॥७॥
प्राननाथु रघुनाथ गोसाँई। जो बड़ होत सो राम बड़ाई॥८॥
दो०—पति देवता सुतीयमनि सीय साँथरी देखि।
बिहरत हृदउ न हहरि हर पबि तें† कठिन बिसेषि॥१९९॥

शब्दार्थ—श्रीहत=शोभारहित, प्रभाहीन, निस्तेज। 'दुति' (द्युति)=चमक-दमक। 'गोसाँई'=पृथ्वी, स्वर्ग, गऊ, इन्द्रिय सभीके स्वामी। 'हहरि'=घबड़ाकर, हाहा करके, हहराकर। यथा—*'गिर्‌यो हिय हहरि हराम हो हराम हन्यो हाय हाय करत परीगो काल फग मैं।'* (क० उ० ७६), *'हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाज। मोहु से कहुँ कतहुँ कोउ तिन्ह कह्यो कोसलराज॥'* (विनय० २१९) 'बिहरत'=फटती, दरकती, विदीर्ण होती—(सं० विघटन, प्रा० विहडन)। यथा—*'ऐसेहु मति उर बिहरु न तोरा।'* (६। २२। २), *'बल बिलोकि बिहरति नहिं छाती।'* (६।३२।४)

* 'बिलीना'—(ला० सीताराम)। अन्य प्रतियोंमें 'मलीना' पाठ है। 'विलीन'=नष्ट, क्षयप्राप्त। प० प० प्र० स्वामीजीका मत है कि 'मलीन' पाठ उत्तम है; कारण कि मलीन होना पूर्व भी कह चुके हैं। यथा—'तन कृस मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहु माखी मधु छीने॥' (७६। ४) बिलीन होना कहीं नहीं कहा है। 'मलीन' का अर्थ 'म्लान' भी ले सकते हैं।

† राजापुरकी और काशिराजकी रामायण-परिचर्यामें 'पति तें' पाठ है। क्या अर्थ है समझ नहीं पड़ता।

अर्थ—श्रीसीताजीके विरहसे ये स्वर्णकण भी शोभाहीन और चमक-दमकरहित हो गये हैं जैसे श्रीरामवियोगमें अवधके स्त्री-पुरुष शोकसे कृश हो गये हैं॥ ५॥ योग और भोग दोनों इस संसारमें जिनकी हथेलीमें हैं ऐसे राजा जनक पिता हैं। उनकी समता किससे करूँ॥ ६॥ सूर्यकुलके भी सूर्य राजा दशरथ ससुर हैं जिनको अमरावतीका स्वामी इन्द्र भी सिहाता था (उनका-सा ऐश्वर्य और प्रताप पानेको ललचाता और उनके भाग्यकी सराहना स्पर्द्धासे करता था)॥ ७॥ गोस्वामी प्रभु रघुनाथजी प्राणपति हैं-जो बड़ा होता है वह श्रीरामजीकी (दी हुई) बड़ाईसे ही बड़ा होता है॥ ८॥ पतिव्रता स्त्रियोंमें शिरोमणि सीताजीकी साथरी (कुश-शय्या) देखकर मेरा हृदय हहरकर फट नहीं जाता। हे हर! यह वज्रसे भी अधिक कठोर है॥ १९९॥

टिप्पणी—१ *'श्रीहत सीय बिरह दुति हीना।'''* इति। (क) वस्त्रसे च्युत हुए; श्रीजानकीजीके अङ्गमें थे वहाँसे च्युत हुए; अतएव श्री अर्थात् ऐश्वर्यसे हीन हुए। पुनः, श्रीसीताजीसे विक्षेप पड़ा इससे विरहके कारण द्युति अर्थात् शोभासे हीन हुए। पुनः धूलमें पड़े हैं अतएव मलिन या विलीन हैं।—(ये जड़ हैं तब भी मलिन हो गये। वैसे ही मलिन हैं जैसे चेतन अवधवासी वियोग-विरहसे मलिन हैं, इनसे कम नहीं। (पं०) (ख) *'कनकबिन्दु'* की मलिनता जिनके विरहसे हुई अब उनको बताते हैं कि वे कैसी हैं। [(ग) कविकल्पनानुसार जड़ वस्तु भी विनती कर सकती है। *'मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं। हमहि सीय पद जनि परिहरहीं॥'* (५८। ६) यह उदाहरणमें दे सकते हैं। गीतावलीमें मुद्रिकासे श्रीसीताजीने प्रश्न किया है और उसने उत्तर दिया है। अतः यहाँ भाव यह होता है कि कनकबिन्दु मनसे म्लान और तनसे मलीन हो गये हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'पिता जनक देउँ पटतर केही'''* समता नहीं देनेका कारण दूसरे चरणमें देते हैं कि इनके हाथमें योग और भोग दोनों ही हैं। एक ही होता तो चाहे उपमा दे सकते कि सनकादिकके-से योगी हैं, शुक और सनकादिक सिद्ध योगी हैं, यथा—*'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥'* (१। २६। २) या इन्द्रके सदृश भोगविलासवाले हैं, (यथा—*'मघवासे महीप बिषयसुख साने।'* (क० ७। ४३), *'भोगेन मघवानिव।'* इन्द्र विषयसुख-भोगकी अवधि है)। पर सनकादिकमें भोग नहीं इन्द्रके योग नहीं। योग-भोग दोनोंका परस्पर विरोध है। जो भोगी हैं उनसे योग नहीं सध सकता और जो योगी हैं वे भोगकी ओर दृष्टि नहीं कर सकते—*'सकुचात यमी से'*। दोनों परस्पर विरोधी बातें इनमें एकत्र हैं ब्रह्माण्डभरमें दूसरा ऐसा नहीं है यथा—*'रागी औ बिरागी बड़भागी ऐसो आन को? भूमि भोग करत अनुभवत जोगसुख, मुनिमन अगम अलख गति जान को॥'* (गी० १। ८६)

टिप्पणी—३ *'ससुर भानुकुल भानु भुआलू—'* इति। (क) भाव कि किसीके माता-पिता (मायका) अच्छा होता है तो ससुराल नहीं, ससुराल भी उत्तम हुई तो पति गुणवान् या सुन्दर नहीं, यह भी कदाचित् हुआ तब भी अपनेहीमें कोई-न-कोई त्रुटि रह जाती है। यहाँ दिखाते हैं कि पितुकुल, पतिकुल, पति, सब सर्वोत्कृष्ट और स्वयं भी वैसी ही हैं। (ख) ससुरालकी उत्तमता कि 'सूर्यकुलके' जिसमें रघु, इक्ष्वाकु, मान्धाता, हरिश्चन्द्र, दिलीप आदि राजा हुए, सब चक्रवर्ती हुए। उस सूर्यकुलके भी प्रकाशक महाराज दशरथजी हुए जो ससुर हैं और जिनके भाग्यको इन्द्र भी ललचाते हैं। पति कैसे हैं सो देखिये—*'प्राननाथु रघुनाथ गोसाँई। जो बड़ होत सो राम बड़ाई॥'*

टिप्पणी—४ *'प्राननाथु रघुनाथ गोसाँई'''।'* इति। (क) *'प्राननाथ'*=पति। प्राणोंके स्वामी, रक्षक हैं। *'रघुनाथ'*=रघुकुलके नाथ हैं, बिना इनके अवधको अनाथ देख रहे हो। पुनः, *'रघु'* अर्थात् जीवमात्रके ये नाथ हैं—*'प्रान प्रानके जीवन जी के।'* (वाल्मी० २। ८८ में भरतजी कहते हैं **'अकर्णधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति मे॥'** (२२) श्रीरामजीके वन जानेसे पृथ्वी मुझे स्वामिहीन और शून्य जान पड़ती है)। और गो अर्थात् पृथ्वी इन्द्रिय आदि सभीके स्वामी हैं, चैतन्यकर्त्ता हैं। (ख) *'जो बड़ होत सो राम बड़ाई'* यथा—*'केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई।'* (१९५। १) ब्रह्मादिकको जो बड़ाई प्राप्त है वह इन्हींके देनेसे।

यथा—*'हरिहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति।'* ......(वि० १३५) तब भला इनकी बड़ाईका पारावार कहाँ?

टिप्पणी—५ *'पति देवता सुतीयमनि'''* इति। (क) पतिहीको देवता (इष्टदेव) माननेवाली सुन्दर पतिव्रताएँ जैसे अनसूयाजी, अरुन्धतीजी, उमा, रमा, ब्रह्माणी, शची, सावित्री, शुभी, शैव्या, वृन्दा, तुलसी, रोहिणीजी इत्यादि। इनकी भी शिरोमणि सीताजी हैं। ऐसी सब प्रकारसे श्रेष्ठ सीताजी ऐसी कुशपल्लवकी शय्यापर सोयीं यह देखकर हृदयको हाहा करके विदीर्ण हो जाना चाहिये था पर वह नहीं फटता। 'हर' शब्द यहाँ कष्टवाची है जैसे हा भगवन् ! हा राम ! वैसे ही यहाँ हा हर ! ऐसा अर्थ होगा 'हर' को स्मरण करते हैं कि आप संहारकर्त्ता हैं आप इसे विदीर्ण कर दें। (ख) वज्रसे भी अधिक कठोर है। भाव कि वज्र भी अपना अपमान नहीं सह सकता, यथा—*'जब चेरी पायँन परो तब न उठी तन पीर। जानि जौहरी पग धरेउ तब फाटेउ नग हीर॥'* अर्थात् जब दासीके पैरोंमें पड़ा तब उसे दुःख न हुआ क्योंकि वह उसे क्या जाने? पर जब जौहरीने जानकर उसका निरादर किया कि उसपर पैर रखा तो वह चूर-चूर हो गया कि जो घनकी चोट सह लेता है और मैं सम्मुख दुःखको देख रहा हूँ तब भी सहन करता हूँ। (ग) वज्र उपमानकी अपेक्षा हृदयको अधिक कठोर कहना 'व्यतिरेक अलङ्कार' है।

नोट—निषादराजके हृदयमें प्रेमवश ऐसा ही विषाद हुआ था। मिलान कीजिये—*'पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥ रामचंदु पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥'* (९१। ६, ७) उसने विधाताको दोष दिया और श्रीभरतजी अपनेको कारण मानकर अपनेको दोष दे रहे हैं। पूरा प्रसङ्ग इस प्रसङ्गसे मिलाने योग्य है। श्रीसीताजीने भी पिता और श्वशुरके सम्बन्धमें ऐसा ही कहा है—*'पितु बैभव बिलास मैं डीठा।'''सुखनिधान अस पितु गृह मोरे।'''ससुर चक्कवइ कोसलराऊ।'''आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई॥'* (९८। १—५)

लालन जोगु लषन लघु लोने। भे न भाइ ऐसे* अहहिं न होने॥ १॥
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय रघुबीरहि प्रान पिआरे॥ २॥
मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥ ३॥
ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस एहि छाती॥ ४॥

शब्दार्थ—दुलारे=जिसका बहुत दुलार या लाड़-प्यार हो, लाड़ला। दुलार (सं० दुर्ललन)=प्यार करनेकी वह चेष्टा जो प्रेमके कारण लोग बच्चों या प्रेमपात्रोंके साथ करते हैं, जैसे कुछ विलक्षण सम्बोधनसे पुकारना, शरीरपर हाथ फेरना, चूमना इत्यादि। लाड़-प्यार। मूरति=मूर्ति, शरीर, देह।

अर्थ—सुन्दर, छोटे और दुलार करनेयोग्य लक्ष्मणजी ऐसे (सरीखे, समान) भाई न हुए, न हैं और न होनेवाले हैं॥ १॥ जो अवधपुरवासियोंके प्यारे, माता-पिताके लाड़ले और श्रीसियरघुबीरके प्राणप्यारे हैं॥ २॥ जिनका शरीर कोमल है, स्वभाव बड़ा कोमल और नाजुक है, जिनके शरीरमें गर्म हवा भी कभी नहीं लगी, अर्थात् जो कभी बाहर नहीं निकले॥ ३॥ वही लक्ष्मणजी वनमें सब प्रकारकी विपत्तियाँ (आफतें, कष्ट, दुःख) सब तरह झेल रहे हैं—इस मेरी छातीने कठिनतामें करोड़ों वज्रोंका भी तिरस्कार कर दिया। अन्यथा यह विदीर्ण हो जाती॥ ४॥

नोट—१ *'लालन जोगु'''* इति। भरतजीका प्रेम, भाईपना देखने ही योग्य है। लक्ष्मणजी कितने बड़े हैं, विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा, धनुर्भंगपर परशुरामजीके गर्व-हरण, इत्यादि सब जानते ही हैं, अवस्था भी अपनी ही है, कुछ घंटोंकी छोटाई-बड़ाई है, पर इनके लिये वे हैं तो छोटे ही।

* 'अस' पाठ अधिक प्रतियोंमें है। राजापुरकी पोथीमें 'ऐसे' हैं। इससे मात्राएँ बढ़ जाती हैं। पढ़नेमें इसके दोनों वर्णोंका लघु उच्चारण करना पड़ेगा। इस समय श्रीभरतजीकी अत्यन्त विह्वल दशा दिखानेके लिये सम्भव है कि छन्दोभङ्ग किया हो। सामान्यतः 'अस' ही होना चाहिये था।

उनको बच्चा ही समझते हैं। इसमें आश्चर्य क्या? प्रेम ऐसा ही पदार्थ है। प्रेममें माता-पिता बूढ़े लड़कोंको भी बच्चा ही समझते हैं, कोई उनसे कहे कि उसकी इतनी अवस्था हो गयी तो वे विश्वास भी नहीं करते यही कहते हैं, नहीं-नहीं अभी तो वह बच्चा है। वैसा ही यहाँ प्रत्यक्ष है। गोस्वामीजी स्वभाव-निरीक्षणमें कैसे कुशल थे, यह प्रसङ्ग भी इसका प्रमाण है। [इन वचनोंमें भ्रातृवत्सलताकी परमावधि बतायी गयी है। (प० प० प्र०)]

नोट—२ (क) श्रीरामजीकी साथरी देखी, श्रीसीताजीकी देखी। पर श्रीलक्ष्मणजीकी साथरी नहीं देखी, इसीसे विशेष शोकाकुल हो ऐसे वचन कह रहे हैं। श्रीभरतजी कहते हैं कि वे तो अभी झूलामें झूलते तथा गोदमें लेकर प्यार करने इत्यादिके योग्य थे, न कि काँटे-कंकड़पर नंगे पैर चलनेके, वे तो 'लघु' अर्थात् छोटे बच्चे हैं, यही नहीं बड़े सुन्दर हैं। बाहरके योग्य नहीं; कोमल अवस्था है, नजर न लग जाय। सवारीपर ऐसे सुन्दर कुमारको जाना योग्य है पर वे सब छोड़ भाईका साथ देने वनको गये; सोचे होंगे कि '*भोजन सयन केलि लरिकाई।*…' इत्यादि सब कार्योंमें साथ रहे तो वनमें क्यों न साथ जायँ, सुख-दुःख सबमें साथी बने, भोजन-शयन सब भुलाकर सेवा करते हैं—ऐसा भाई न सुननेमें आया, न वर्तमान कालमें है, न आगे हो सकता है। अतः मुझे प्यारे हैं। (ख) छोटे और सुन्दर होनेसे '*लालन*' योग्य हैं, अवगुण और अनीति छू नहीं गयी इससे पुरजनको प्रिय हैं; माता-पिताके 'दुलरुवा' हैं और श्रीसीतारामजीको तो वे प्राणोंके समान प्यारे हैं अर्थात् ऐसा कोई नहीं जिसको वे प्रिय न हों। यहाँ उत्तरोत्तर एकसे दूसरेका अधिक प्रियत्व दिखाया—'*प्रिय दुलारे प्रानते प्यारे।*' इससे यह भी जनाया कि संसारमें सर्वप्रिय कोई नहीं होता पर इनमें वे सब गुण हैं जिससे ये सभीके प्रिय हैं। (ग) '*रघुबीरहि*' पद देकर जनाया कि इनपर मजाल नहीं कि कोई इनका कुछ बिगाड़ सके क्योंकि रघुवीरको ये प्यारे हैं। पुनः भाव कि ये रघुवीरके भी प्राणोंके रक्षक हैं, उनपर कोई आघात करे तब इनको देखिये। (घ) '*मृदु मूरति*' अर्थात् कष्ट सहने योग्य नहीं, जरामें कुम्हला जायँ। '*सुकुमार*' अर्थात् नाजुक, किसीका दुःख न देख सकें न स्वयं ही कोई कष्ट सह सकें। यह स्वभाव है कुछ देखकर अभ्याससे ऐसा नहीं बने हैं। जन्मसे ऐसे हैं। गर्म हवा कभी न लगी अर्थात् सदा घरमें रहे जहाँ सदा गुलाब, खस आदिसे सम्बन्धित शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन जाता था।

नोट—३ (क) '*ते बन सहहिं बिपति सब भाँती*' इति। वाल्मी० रा० में निषादराजने श्रीलक्ष्मणजीके रातभर जागने और पहरा देनेका वृत्तान्त श्रीभरतजीसे कहा है। पर मानसमें श्रीभरतजी साथरी न देखकर स्वयं ही सब समझ गये, उन्हें पूछना नहीं पड़ा। (ख) '*निदरे कोटि कुलिस*' इति। श्रीसीताजीकी साथरी देख हृदयको '*पबि तें कठिन*' कहा। इनकी साथरी न देख ग्लानि अधिक हुई कि हा! ये सोये भी नहीं, पहरा ही देते रहे…। अतएव '*कोटि कुलिस*' का निरादर करना कहा। अवधके दरबारमें श्रीभरतजीने '*बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू॥*' (१७९। ६) यह कहकर तब उसके सम्बन्धसे कहा था कि—'*कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई। निदरि कुलिस जेहि लही बड़ाई॥*' (१७९। ८) और यहाँ सीय-साथरी देखनेपर भी प्राण रहे, हृदय विदीर्ण न हो गया अतः यहाँ भी '*पबि तें कठिन बिसेषि*' कहा। कुलिशका निरादर करना ही उससे विशेष कठिन होना है। और यहाँ लक्ष्मणजीका वनमें '*बिपति सब भाँती*' सहना जानकर कहते हैं '*निदरे कोटि कुलिस एहि छाती।*' भाव कि ऐसे कोमल बच्चेको ऐसा कष्ट मेरे कारण सहना पड़ा यह समझकर तो अवश्य ही प्राण निकल जाने थे फिर भी प्राण नहीं निकलते। यहाँ 'पञ्चम प्रतीप अलंकार' है। 'यह छाती'—'अंगुल्यानिर्देशात्मक' वचन है, छातीपर हाथ धरकर शोकसे कहा।

राम जनमि जगु कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥५॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥६॥

बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥ ७॥
सादर* कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुनगन लेखा॥ ८॥
दो०—सुखस्वरूप रघुबंसमनि मंगल मोद निधान।
ते सोवत कुस डासि महि बिधि गति अति बलवान॥ २००॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने संसारमें जन्म लेकर संसारमें प्रकाश (उजाला) कर दिया। वे रूप, शील, सुख और समस्त गुणोंके समुद्र हैं॥ ५॥ पुरवासी, कुटुम्बी, गुरु, पिता और माता सभीको श्रीरामजीका स्वभाव सुख देनेवाला है॥ ६॥ शत्रु भी श्रीरामजीकी बड़ाई करते हैं। उनकी बोल-चाल, मिलनसारी और विशेष नम्रता मनको हर लेती है॥ ७॥ करोड़ों अरबों (अर्थात् असंख्य, अगणित) शेष भी आदरपूर्वक प्रभुके गुणसमूहोंका लेखा (गिनती) किया चाहें तो नहीं कर सकते (तो भला मैं क्या कह सकता हूँ)॥ ८॥ जो सुखके स्वरूप मङ्गल और आनन्दके खजाना रघुकुलशिरोमणि हैं वे ही कुशा बिछाकर पृथ्वीपर सोते हैं; विधाताकी गति (चाल) अत्यन्त बलवान् है॥ २००॥

नोट—१ *'रूप सील सुख सब गुन सागर'* क्रमसे इनके प्रमाण ये हैं—*'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे⋯'* (मनुजी); *'सीलसिंधु सुनि गुरु आगमनू'*—(चित्रकूटमें); *'सुखसागर रघुबर सुख पावा'*—(पंपासरपर); *'गुनसागर नागर बर बीरा'*। (१। २४१। २)

नोट—२ वाल्मीकीय अध्याय २ श्लोक २६ से अन्ततक श्रीरामजीके गुणोंका वर्णन राजाओंने किया है उसे देखिये। पूर्व कुछ लिखा भी गया है। रूपसमुद्र तो है ही कि विश्वामित्र और जनक ऐसे महर्षि एकटक देखते ही रह गये, जनकपुरमें *'मोहे सकल नगर नरनारी',* खरदूषण, शूर्पणखा निशाचर जिनपर मोहित हो गये औरोंका क्या कहना? शील ऐसा कि किसीने सैकड़ों ही अपकार क्यों न किये उनपर ध्यान ही न दिया—कहते कि *'बैरभाव सुमिरत मोहि निसिचर।'* कठोरभाषीसे भी प्रेमपूर्वक कोमल भाषण करते। सुखसागर हैं अतएव सबको सुख देते हैं—सत्य और वह भी प्रियवादी, कृतज्ञ, इन्द्रियजित्, सबके दुःखमें दुःखी, सुखसे सुखी—इस तरह सबको सुखद। गुणसागर अर्थात् क्षमाशील, बुद्धिमान्, पराक्रमी, सत्यप्रतिज्ञ, शरणागतवत्सल, करुणामय, कृपालु इत्यादि गुणोंसे युक्त होनेसे सर्वप्रिय हैं, लोग सबेरे-शाम इनके कल्याणके लिये देवताओंको मनाते हैं। गुणसागर हैं अतएव गुणियोंके गुणोंका आदर करते हैं। सबको सुखद इस तरह कि ब्राह्मणों, वृद्धोंकी सेवा करते हैं, उनके उपदेशको सुनते हैं। बाहरसे आनेपर जो कोई मिलता उससे उसका कुशल-समाचार पूछते जैसे पिता पुत्रसे। (वा० अ० २)

पुरजन=प्रजा; अवधवासी। प्रजाके लिये स्वयं कहा है—*'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।'* कैसे प्रिय कि *'सियनिंदक अघओघ नसाये। लोक बिसोक बनाइ बसाये॥'* जिनपर ऐसी ममता है वे क्यों न सुख मानेंगे।

पं०—श्रीरामचन्द्रजीने प्रकट होकर सारे जगत्को अपने रूप, शील, सुख और गुणोंसे प्रकाशित कर दिया। इन सबके वे आदर्श हुए। और जितने हुए उन्होंने वेदोंद्वारा बड़ाई पायी और इनसे वेदादिने ही बड़ाई पायी।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—प्रजा, कुटुम्बी, गुरु, माता, पिता कोई भी सम्बन्ध श्रीरामजीसे कर लो; वे सुख देंगे। अथवा, उनका यह स्वभाव ही जान लो, स्मरण किया करो तो भी सुख मिले, यथा—*'उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥'* (५। ३४। ३)

टिप्पणी—२ (क) *'बैरिउ राम बड़ाई करहीं।⋯'* इति। जैसे मारीचने रावणसे कहा—*'जौं नर तात*

* ना० प्र० की प्रतिमें 'सारद' है। राजापुरका पाठ 'सादर' है। अर्थ तो लग जाता है पर 'सारद' पाठ विशेष उत्तम जान पड़ता है। 'सारद' पाठमें एक 'कोटि' शारदाका विशेषण हो जायगा अथवा 'कोटि सत' दीपदेहलीन्यायसे 'सारद' और 'शेष' दोनोंके साथ जायगा।

तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥' (३। २५। ८) बालिने समदर्शी कहा, खर-दूषणने कहा कि *'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।'* शूर्पणखा नाक-कान कटनेपर भी उनकी बड़ाई करती है,—*'अवधनृपति दसरथ के जाये। पुरुषसिंघ बन खेलन आये॥' '....परम धीर धन्वी गुन नाना।' '....सोभा धाम राम अस नामा।'* (३। २२) रावणकी स्त्री भी कहती है—*'अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।'* (६। १०३); शुकसारन भी *'प्रभु गुन हृदय सराहहिं सरनागत पर नेह।'* (५। ५१) इत्यादि।

(ख) *'बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं।...'* इति। भाव कि कदाचित् उनसे बोलने, मिलने और विनय करनेका अवसर आवे तो उनका बोलना, मिलना और विनम्रता मनहीको हर लेती है। यथा—*'बारबार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा॥ रामबिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥'* (उ० १९) *'भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं।'* (गी० १। ७१) इस तरहका उनका बोलना है। इससे श्रोताको सुख मिलता है। यथा—*'सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुसमें कछु पै कहिहैं।'* (क० २। २३) (ये मगवासिनियोंके वाक्य हैं)। पुनः, क्रमसे इनके उदाहरण और भी सुनिये—विभीषणसे बोलनि, यथा—*'कहु लंकेस सहित परिवारा।....'*। (५। ४६) शबरी, गीधराज और हनुमान्‌जीसे मिले तो एकको माता, दूसरेको पिता मानकर मिले। तीसरेसे *'तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥ सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना॥'* (४। ३) इस तरह मिले। अत्रिसे विनय, यथा—*'संतत मोपर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेउ जनि नेहू॥'* पुनः, विनयसे परशुरामका मन हरण किया—*'बिनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥'* (१। २८५। ३) इनको कोई (रामायण आदिकी कथासे भी) स्मरण करे तो उसका मन मुग्ध हो जाय।

टिप्पणी—३ *'सादर कोटि कोटि सत सेषा।....'* इति। भाव कि इतने ही गुण नहीं हैं, अनन्त गुण हैं; अतः ये भी पार नहीं पा सकते। यथा—*'राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।'* (७। ९२ भुशुण्डिवाक्य), *'राम अनंत अनंत गुनानी।....रघुपति चरित न बरनि सिहाहीं।'* (७। ५२। ३-४ शंकरवाक्य), *'होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कल्प कोटिक भरि लेखा॥ मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥'* (१। ३४२ श्रीजनकवाक्य), *'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरन्तर गान॥'* (१। १२)

टिप्पणी—४ *'सुखस्वरूप रघुबंसमनि मंगल....'* इति। (क) सुखके स्वरूप हैं, जो सुखका स्वरूप देखना चाहे वह इनको देख ले। ऊपरसे देखनेमें ऐसे हैं, भीतर सुख न हो सो नहीं, भीतर मङ्गलमोदके समुद्र हैं। भीतर-बाहर एक-से हैं। पुनः, भाव कि इनका बोलना आदि मनको हरनेवाले हैं और जो कहीं ये ही मिल जायँ तो सुखस्वरूप हैं तभी तो शिवजी ध्यानमें इन्हें पाकर सत्तासी हजार वर्ष पलक लगाये बैठे ही रह गये ऐसा सुख उनको हुआ। और समाज-सहित श्रीजनकजीकी भी इनको पाकर क्या दशा हुई?—*'सुखके निधान पाये हियके पिधान लाये, ठगकेसे लाडू खाये प्रेम मधु छाके हैं। स्वारथ रहित परमारथी कहावत हैं, भे सनेह बिबस बिदेहता बिबाके हैं। एक रस रूप चित्त सकल सभाके हैं।'* (गी० १। ६२) (ख) *'ते सोवत...बिधि गति अति बलवान'* इति। प्रेम और विरहकी विह्वलतामें ऐश्वर्य भूलकर *'बिधि गति....'* कह गये।—यही भक्तिपक्ष है। देखो, जिसके रोमरोममें कोटि ब्रह्माण्ड देखे उन्हींको माता सोचती हैं कि भूखे न हों, ...।

नोट—३ वाल्मीकीय अध्याय ८८ से मिलान कीजिये **'महाराजकुलीनेन महाभागेन धीमता। जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्तुमर्हति॥ ३॥ अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसञ्चये। शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले॥ ४॥....न नूनं दैवतं किञ्चित्कालेन बलवत्तरम्। यत्र दाशरथी रामो भूमावेवमशेत सः॥ ११॥ यस्मिन् विदेहराजस्य सुता च प्रियदर्शना। दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च॥'** (१२) श्रीभरतजी कहते हैं कि महाभाग, बुद्धिमान्, महाराजकुलमें उत्पन्न, दशरथजीके पुत्र पृथ्वीपर सोने योग्य नहीं। सुन्दर मखमली

नर्म बिछौनोंपर सोनेवाले जमीनपर कैसे सो सकते हैं? कालसे बढ़कर कोई बलवान् नहीं, जिसके कारण दशरथपुत्र रामजी और विदेहतनया रामभार्या दशरथवधू प्रियदर्शना सीताजी जमीनपर सोये।

राम सुना दुख कान न काऊ। जीवनतरु जिमि जोगवइ राऊ॥ १॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिनराती॥ २॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कंद मूल फल फूल अहारी॥ ३॥
धिग कैकई अमंगल मूला। भइसि प्रानप्रियतम प्रतिकूला॥ ४॥
मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी। सबु उतपातु भएउ जेहि लागी॥ ५॥
कुलकलंकु करि सृजेउ बिधाताँ। साँइदोह मोहि कीन्ह कुमाताँ॥ ६॥

शब्दार्थ—**जीवनतरु**=प्राण-वृक्ष। ५९ (६) *'जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ'* से मिलान कीजिये। **पदचारी**=पैदल चलनेवाला। **सृजेउ**=उत्पन्न या पैदा किया, बनाया, रचा। **साँइ**=स्वामी। **दोह**=द्रोही।

अर्थ—श्रीरामजी कानोंसे भी कभी दुःखका नाम सुनातक न था (देखना और सहना तो दूर ही रहा, सो आज दुःख झेल रहे हैं)। राजा उनकी सारसँभार जीवन-वृक्षकी तरह करते रहते थे॥ १॥ जिस प्रकार पलक नेत्रकी और सर्प मणिकी रक्षा करते हैं वैसे ही सब माताएँ रात-दिन उनकी रक्षा करती थीं॥ २॥ वे ही श्रीराम अब जंगलोंमें पैदल फिर रहे हैं और कंद-मूल-फल भोजन करते हैं॥ ३॥ अमंगलकी जड़ कैकेयीको धिक्कार है कि प्राणोंसे भी प्यारे (स्वामी) के प्रतिकूल हो गयी॥ ४॥ मुझ पाप-समुद्र और अभागेको धिक्कार है, धिक्कार है कि जिसके कारण यह सब उपद्रव हुआ॥ ५॥ विधाताने मुझे कुलके लिये कलङ्करूप बनाकर पैदा किया और कुमाताने मुझे स्वामिद्रोही बनाया॥ ६॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० (क) *'राम सुना दुख कान न काऊ।'*, *यथा—'प्रथम दीख दुख सुना न काऊ।'* (४०। ३) (ख) *'जीवनतरु जिमि…'* इति। भारतमें कथा है कि जीवन-वृक्ष एक वृक्ष होता है जिसको उखाड़ डालनेसे मृत्यु होती है। इसीसे यहाँ जीवनतरुकी उपमा श्रीरामजीसे दी। इनके हटते ही मृत्यु हुई।—५८ (६) देखिये। [जीवनतरु संजीवनी है। प्राणका रक्षक है, मरेको भी जिला दे। अतएव जिसके पास वह हो वह उसकी बड़े प्रेमसे रक्षा और लालन-पालन करता है। वैसे ही राजा इनको अपने प्राणोंके रक्षक जानकर इनका अत्यन्त प्रेमसे लालन, पालन, रक्षा करते थे। (पं०) और सत्य ही जीवनतरु श्रीरघुनाथजीहीने उनके सत्यकी रक्षा करके उनको अमर कर दिया, अचल कीर्ति दी।]

टिप्पणी—२ *'पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती।…'* इति। (क) [पलकें नेत्रपर धूल, तिनका, आदितक नहीं पड़ने देतीं, अपने ही ऊपर ले लेती हैं। (पं०) माताएँ बराबर इनकी बलैयाँ लेती हैं, कुर्बान जाती हैं, इनके कल्याणके लिये मन्नत मानती रहती हैं)। *'सकल'* अर्थात् कौसल्या ही नहीं, किंतु सातो सौ रानियाँ अपना ही पुत्र मानती हैं। पलक नयन सम रक्षा करना कहकर यह भी जनाया कि जो नयनमें थे (नयन थे) वे वनको गये, वहाँ नंगे पैरोंमें काँटे गड़ते हैं, इत्यादि। वह उनका क्लेश माताओंके नेत्रोंमें चुभ रहा है, करक रहा है। पलकें दिनमें नेत्रोंके खुले रहने और रातमें सोनेपर भी रक्षा करती हैं; वैसे ही माताएँ दिन-रात रक्षा करती थीं। श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि दो उपमाएँ देकर दिन और रातका रक्षा करना स्पष्ट किया गया है। नेत्रका व्यवहार प्रकाश दिनमें ही होता है अतः प्रथम उपमासे दिनका और मणिको सर्प रातमें ही प्रकटकर उससे कार्य साधता है। अतः दूसरी उपमासे रातका 'जोगवना' सिद्ध किया।] रानियोंके सम्बन्धमें रामको सर्पका मणि कहा—*'मनि गए फनि जिये ब्याकुल बिहालरे'।* वैसे ही रामवियोगमें इनकी दशा हो रही है। विशेष *'निज मन फनि मूरति मनि करहू।'* (१। ३३५। ७), *'फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई।'* (१। ३५८। ४), *'राखहु पलक नयन की नाईं।'* (५७। १), *'नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।'* (५९। २) और *'पलक बिलोचन गोलक जैसे।'* (१४२। १) देखिये।

नोट—१ *'मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी'* इति। कैकेयीने जो कुछ किया वह हमारे लिये किया, अतएव सब अनर्थके कारण हम ही हैं, यह समझकर अपनेको बारम्बार धिक्कार देते हैं। यह सूचित करनेके लिये ही अपने लिये दो बार यह शब्द प्रयुक्त किया और कैकेयीके लिये एक बार। क्योंकि वे सोचते हैं कि न मैं होता न ये अनर्थ होते।

यहाँ तीनको दोष देते हैं, ब्रह्माको, कैकेयीको और अपनेको; और उत्तरोत्तर एकसे दूसरेका दोष अधिक दिखाते हैं। ब्रह्माने कुलका कलंक बनाया, माताने स्वामिद्रोही बनाया और मैं पापोंका समुद्र हूँ, हतभाग्य हूँ। सब अनर्थ मेरे लिये हुए। माताको प्रथम कहा क्योंकि वह प्रथम इसकी कारण बनी। पंजाबीजी लिखते हैं कि यदि कोई कहे कि यह सब दैवाधीन हुआ इसमें कैकेयीका दोष क्या? उसपर कहते हैं कि कारण दो प्रकारका होता है—सामान्य और विशेष। दैव सामान्य कारण है और यह विशेष।

नोट—२ *'मैं धिग धिग····'* इति। मिलान कीजिये—**'धिङ् मां जातोऽस्मि कैकेय्यां पापराशिसमानतः। मन्निमित्तमिदं क्लेशं रामस्य परमात्मनः॥'** (अ० रा० २। ८। ३१) अर्थात् मुझे धिक्कार है जो मैं मूर्तिमान् पापपुञ्जके समान कैकेयीके गर्भसे उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे लिये ही परमात्मा रामको यह क्लेश उठाना पड़ा। (वाल्मीकीय अ० ८८ श्लो० १७) से भी मिलान करें। वहाँ कहा है—हा! मैं मारा गया, मैं बड़ा ही क्रूर हूँ, मेरे ही कारण भार्यासहित रघुनाथजी अनाथकी तरह इस शय्यापर सोये। यथा—**'हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम। ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥'**

नोट—३ प्रथम श्रीसीताजीके कनकबिन्दु और साथरी देख शोक प्रकट किया। छः अर्धाली और एक दोहेमें—*'कनकबिंदु दुइ चारिक देखे'* से *'पबितें कठिन बिसेषि॥'* (१९९ तक)। फिर *'लालन जोग लषन सुठि लोने'* से *'निदरे कोटि कुलिस एहि छाती'* तक चार अर्धालियोंमें लक्ष्मणजीके कारण शोक किया अन्तमें *'राम जनमि जगु····'* से *'कंद मूल फल फूल अहारी'* तक सात अर्धालियों और एक दोहेमें श्रीरामजीके सम्बन्धसे शोक प्रकट किया। सबके कष्टका कारण अपनेको जानकर अपनेको धिक्‌-धिक्‌ करने लगे।

अलङ्कार—*'राम सुना दुख····जोगवहिं जननि'* में उदाहरण अलङ्कार है।

सुनि सप्रेम समुझाव निषादू। नाथ करिअ कत बादि बिषादू॥७॥
राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं। एह निरजोसु दोसु बिधि बामहिं॥८॥
छं०—बिधि बाम की करनी कठिन जेंहि मातु कीन्ही बावरी।
तेहि राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी॥
तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतमु कहतु हों सोहैं किए।
परिनाम मंगल जानि अपने आनिए धीरजु हिए॥
सो०—अंतरजामी रामु सकुच सप्रेम कृपायतन।
चलिअ करिअ बिश्रामु एह बिचार* दृढ़ आनि मन॥२०१॥

शब्दार्थ—**'निरजोस'** (निर्यास)=निचोड़, निर्णय, दृढ़ निश्चय, सिद्धान्त; यथा—*'संभु सिखवन रसनहू नित रामनामहि घोषु। दंभहू कलि नाम कुंभज सोचसागर सोषु॥ मोदमंगलमूल अति अनुकूल निज निरजोषु। रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम संतोषु॥'* (विनय० १५९) **'सोहैं'**=सौगन्ध, कसम। **'सकुच सप्रेम'**-संकोचयुक्त और प्रेमयुक्त वा, प्रेमसहित (करुणाके स्थान)।

अर्थ—यह सुनकर निषादराज प्रेमपूर्वक समझा रहे हैं कि हे नाथ! आप क्यों व्यर्थ विषाद (दुःख, शोक) कर रहे हैं॥७॥ श्रीरामजी आपको प्यारे है और आप श्रीरामचन्द्रजीको प्रिय हैं यह दृढ़ निश्चय है और निश्चय ही दोष तो कुटिल विधाता (एवं विधिकी वामा सरस्वती) का ही है॥८॥ वाम विधाता (एवं विधिकी स्त्री सरस्वती) की करनी कठिन है कि जिसने माता कैकेयीको बावली बना दिया।

* 'बिचारि'—(ला० सीताराम)। अर्थ—यह विचारकर, दृढ़पूर्वक मनमें लाकर।

उस रात प्रभु बारंबार आदर-पूर्वक आपकी बड़ाई करते रहे। तुलसीदासजी कहते हैं कि वह कहता है कि आप सरीखा कोई रामजीका अतिशय प्रिय नहीं है, मैं शपथ करके यह कहता हूँ। अन्तमें मङ्गल होगा यह जानकर अपने हृदयमें धीरज धारण कीजिये। श्रीरामचन्द्रजी अन्तर्यामी, प्रेमसहित संकोच और कृपाके धाम हैं, यह विचार अपने मनमें पक्का निश्चय करके चलिये और आराम कीजिये॥ २०१॥

नोट—१ *'समुझाव निषादू'* इति। *'निषाद'* पद दिया कि बड़े तर्ककी बात है कि एक हिंसक अधर्मी जातिवाला वह समझावे और किसे? भक्तशिरोमणि राजकुमार भरतजीको। इससे उनके विषादकी सीमा दर्शित की।

नोट—२ बहुतसे लोगोंने अर्थ न समझनेके कारण 'निरजोस' का 'निर्दोष' पाठ कर दिया है।

पु० रा० कु०—*'करनी कठिन जेहि मातु कीन्हीं बावरी।'* भाव कि तुम्हीं सोचो कि ऐसा न होता तो क्या कैकेयीके समान कोई और माता थी कि जो श्रीरामको और जिसे श्रीरामजी अत्यन्त प्रिय रहे हों—*'जौं बिधि जनम देह करि छोहू। होहु रामसिय पूत पतोहू॥ प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें""॥'* (१५। ७-८) *'मोपर करहिं सनेह बिसेषी। मैं करि प्रीति परीछा देखी॥'* (१५। ६)। श्रीरामजीने भी वाल्मी० (२। २२) में लक्ष्मणजीको समझाते हुए ऐसा ही कहा है कि कैकेयीका व्यवहार भरत और मेरे विषयमें समान रहा है—**'तस्या मयि सुतेऽपि वा॥'** (१७)॥ यदि कालके द्वारा उसकी बुद्धि बिगाड़ न दी गयी होती तो वह ऐसा कदापि न करती—**'यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥'** (१६) प्रयत्नोंके द्वारा प्रारम्भ किये हुए कामको रोककर अनचाहा काम जो अनायास ही हो जाता है वह दैवका काम है।—**'असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते। निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥'** (२४) उसको दोष नहीं देना चाहिये जैसे परीक्षित्‌को किसीने दोष न लगाया।

नोट—३ *'बिधि बामहिं'*—*'बिधिबाम'* ये शब्द और भी बहुत ठौर इसी प्रसङ्गमें और अन्यत्र भी आये हैं। जहाँ बाम विधाता वा विधाताकी प्रतिकूलताका अर्थ स्पष्ट है। पर यहाँ ये शब्द श्लिष्ट हैं। यहाँ वह भाव तो है ही पर दूसरा गुप्त और गम्भीर एवं प्रसङ्गानुकूल अर्थ 'विधिकी वामा' (=सरस्वती) भी निकलता है। इस अर्थसे भरद्वाज मुनिका कथन भी संगत है, यथा—*'तात कैकइहि दोषु नहि गई गिरा मति धूति।'* दोनों अर्थ सुसङ्गत हैं। भरद्वाजजीने भी दोनोंहीको दोष दिया है—विधि और सरस्वतीको, यथा—*'बिधि करतब पर कछु न बसाई'* और *'गई गिरा मति धूति।'* (पां०) इसपर वीरकविजी कहते हैं कि 'यह निश्चय है कि दोष ब्रह्माकी स्त्रीका है' 'समासोक्ति अलङ्कार' है।

श्रीपं० रामकुमारजी लिखते हैं कि सरस्वतीका अर्थ करना ठीक नहीं है; क्योंकि निषाद ऐसा ज्ञाता नहीं है कि शारदाका मति फेरना आदि वह जान सके। ऐसा कथन तो भरद्वाजके ही मुखसे शोभा देता और पाता है क्योंकि वे त्रिकालज्ञ हैं।

नोट—*'तेहि राति'*=जिस रात्रिमें यहाँ विश्राम किया था। *'सादर सरहना'* का भाव कि किसीके डर, लिहाज, खुशामदसे जो प्रशंसा की जाती है वह 'सादर' नहीं होती और न वह पीठ-पीछे की जाती है और तुम्हारे प्रेमकी प्रशंसा वे तुम्हारे पीछे सादर करते रहे, रात इसीमें बीत गयी। (पं०) *'सोहैं'* बहुवचन है। इससे जनाया कि भरतजीका शोक दूर करनेके लिये और उनके विश्वासके लिये बहुत शपथें कीं। (रा० प्र०, पु० रा० कु०)

नोट—५ *'तुलसी न तुम्हसो राम प्रीतम""।'*—एक गुप्त भाव इस *'तुलसी'* पदसे पंजाबीजीने और निकाला है। तुलसी भगवान्‌को बहुत प्रिय है, यथा—*'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी॥'* (१। ३०) निषादराज कहते हैं कि तुलसीजी भी तुम्हारे समान उनको प्रिय नहीं। यहाँ कविने अपना नाम कैसे उत्तम स्थलपर रखा है।

नोट—६ *'परिनाम मंगल जानि'* इति। जिस कार्यका अन्तिम फल अच्छा हो जिसके अन्तमें मङ्गल हो वह कार्य, यदि आदिमें शोक और दुःखका भी कारण हो तो भी, उत्तम ही समझना चाहिये। तुम मिलोगे, तुम्हारा शोक दूर हो जायगा; निशाचर वध, रावणवधसे राज्य निष्कण्टक हो जायगा, त्रिलोकीको सुख होगा, इत्यादि।

नोट—७ धैर्य धारण करनेको कहा, अब कहते हैं कि शोक न कीजिये, निश्चिन्त होकर आराम कीजिये; क्योंकि *'अंतरजामी रामु सकुच सप्रेम कृपायतन'* हैं। वे सबके हृदयकी जानते हैं, अतएव तुम्हारे हृदयकी शुद्धताको वे जानते हैं। वे बड़े सङ्कोची हैं, वे किसीके दोषपर कदापि ध्यान नहीं देते और तुममें तो दोष है ही नहीं, जिनमें दोष भरे हैं वे एक बार प्रणाम भी कर देते हैं तो आप उनके कृतज्ञ हो जाते हैं। प्रेमायतन हैं, वे प्रीतिरीति जानते हैं, नीचपर भी उसका प्रेम देखकर प्रेम करते हैं और आप तो प्यारे भाई ही हैं। कृपालु हैं; कोई उनका अपराध भी करे और उनके पास जाय तो भी कृपा करते हैं। अतएव सब तरहसे आपको चिन्ता छोड़ देनी उचित है।

सखा बचन सुनि उर धरि धीरा। बास चले सुमिरत रघुबीरा॥ १॥
एह सुधि पाइ नगर नर नारी। चले बिलोकन आरत भारी॥ २॥
परदखिना करि करहि प्रनामा। देहिं कैकइहिं खोरि निकामा॥ ३॥
भरि भरि बारि बिलोचन लेहीं। बाम बिधातहिं दूषन देहीं॥ ४॥
एक सराहहिं भरत सनेहू। कोउ कह नृपति निबाहेउ नेहू॥ ५॥
निंदहिं आपु सराहि निषादहि। को कहि सकइ बिमोह बिषादहि॥ ६॥

शब्दार्थ—**आरत**=उत्सुक एवं दुःखी होकर। आतुर। **परदखिना**=प्रदक्षिणा, परिक्रमा, पैकर्मा चारों ओर दक्षिणावृत्त फेरी लगाना। **निकामा**=बहुत, अत्यन्त, अतिशय, यथा—'**निकाम श्याम सुंदरं भवाम्बुनाथमंदरं**=निकम्मी, बुरी।' **बाम**=अहितमें तत्पर, टेढ़ा, कुटिल, प्रतिकूल। **बिमोह**=विशेष मोह। मोह=प्रेम, बेसुधी, बेहोशी।—साहित्यमें ३३ संचारी भावोंमेंसे मोह भी एक भाव है—भय, दुःख, घबराहट, चिन्ता आदिसे उत्पन्न चित्तकी विकलता मोह है।

अर्थ—सखाके वचन सुनकर हृदयमें धीरज धरकर रघुवीर श्रीरामजीका स्मरण करते हुए श्रीभरतजी डेरेको चले॥ १॥ नगरके स्त्री-पुरुष यह खबर पाकर बड़ी व्याकुलताके साथ देखने चले॥ २॥ परिक्रमा करके प्रणाम करते हैं और कैकेयीको बहुत दोष* देते हैं॥ ३॥ दोनों नेत्रोंमें आँसू भर-भर लेते हैं। वे वाम विधाताको दूषण देते हैं॥ ४॥ कोई-कोई भरतजीके प्रेमकी प्रशंसा करते हैं। कोई कहते हैं राजाने अपना प्रेम (खूब) निबाहा॥ ५॥ निषादकी सराहना कर-करके सब अपनी निन्दा करते हैं, उस विमोह और विषादको कौन कह सकता है? (बहुत है, वर्णन नहीं हो सकता)॥ ६॥

नोट—१ *'सखा बचन सुनि उर धरि धीरा।'* *'सखा'* पद विश्वासास्पद है, यथा—*'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की'''।'* (वि० २६८) उसका विश्वास करके वहाँसे लौटे, अतः *'सखा'* कहा। यह रामसखा है जो इसने कहा वह अवश्य सत्य होगा। (पु० रा० कु०, पं०)

नोट—२ *'यह सुधि पाइ'''*'—अर्थात् यह समाचार पाकर कि भरतजी रामशय्या देखने गये हैं, शिशपावृक्षके नीचे श्रीरामजी विश्राम किया था। अतएव भारी दुखी हुए। उसकी प्रदक्षिणा करके उसको प्रणाम करते हैं। (रा० प्र०, दीन) *'नगर'* से अयोध्या जानिये। प्रसङ्गानुकूल यही है। बैजनाथजीने

* ठीक अर्थ यही है। ऐसा भी लोग अर्थ करते हैं कि 'निकम्मे लोग कैकेयीको दोष देते हैं। श्रीरामजीके वचनके आधारपर ऐसा अर्थ करते हैं, यथा—'जननिहि दोषु देहूँ जड़ तेई।' इससे प्रेमकी शिथिलता जान पड़ती है, ये तो अनर्थके प्रारम्भसे बराबर दोष देते आये हैं और अब तो प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि कैसे कष्टसे रात यहाँ बीती होगी।

'*अथवा*' पद देकर दोनोंको लिया है। अयोध्या और शृङ्गवेरपुर दोनों ही साथ-साथ मान लें तो भी अर्थ असंगत न होगा।

बै०—'*एक सराहहिं भरत सनेहू*' इति।—उपासक भरतके प्रेमकी प्रशंसा करते हैं कि वे धन्य हैं उन्होंने दूषणको भी भूषण बना लिया। धर्मनिष्ठ राजाके सत्यधर्म और सत्यप्रेमको सराहते हैं कि एकरस ओर-छोर निबाह दिया। और जिन्होंने विधाताको दोष दिया था वे कर्मकाण्डी हैं, वे कर्मकी विपरीतता मानते हैं।

नोट—३ '*निंदहिं आपु सराहि निषादहिं।*' अर्थात् धन्य है यह कि इसके घर आकर इसे साथ लिया, हमको त्याग दिया, इत्यादि। मिलान कीजिये '**भ्रातस्त्वं राघवेणात्र समेतः समवस्थितः। रामेणालिङ्गितः सार्द्रनयनेनामलात्मना॥ धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि यत्त्वया परिभाषितः।**' (अ० रा० २। ८। २३-२४) अर्थात् तुम श्रीरामजीके साथ रहे, उन्होंने तुम्हारा आलिङ्गन किया, तुमसे बातें कीं। अतः तुम धन्य हो (यह भरतजीने कहा है)।

एहि बिधि राति लोगु सबु जागा। भा भिनुसार गुदारा लागा॥७॥
गुरहि सुनाव चढ़ाइ सुहाई। नई नाव सब मातु चढ़ाई॥८॥
दंड चारि महँ भा सबु पारा। उतरि भरत तब सबहिं संभारा॥९॥
दो०—प्रातक्रिया करि मातुपद बंदि गुरहि सिरु नाइ।
आगें किये निषादगन दीन्हेउ कटक चलाइ॥२०२॥

शब्दार्थ—**भिनुसारा** (विनिशा। वा, भानु+सरण)=प्रातःकाल। **गुदारा** (गुजारा फारसी शब्द)=उतारा, नावपर नदी पार उतारनेकी क्रिया। **गुदारा लागा**=उतराई होने लगी। **गुदारा**=गुजारा=चलाचली।

अर्थ—इस प्रकार सबलोग सारी रात जगे। सवेरा हुआ कि उतराई होने लगी॥ ७॥ गुरुजीको सुन्दर नावपर चढ़ाकर सुन्दर नयी नावपर सब माताओंको चढ़ाया॥ ८॥ चार दण्ड (घड़ी) में सब पार उतर गये। तब भरतजीने उतरकर सबकी देखभाल की (कि सब लोग और सामान आ गया)॥ ९॥ श्रीभरतजीने सबेरेकी शौच आदि सब क्रियाओंसे निवृत्त होकर माताके चरणोंकी वन्दना करके गुरुको माथा नवाकर निषाद लोगोंको (राह दिखानेके लिये) आगे करके सेनाको चला दिया।

नोट—१ '*गुरहि सुनाव चढ़ाइ*' इति। गुरुके विशेष सम्मानार्थ उनको सुन्दर रँगी-चगी नावपर चढ़ाया। एक ही नावपर सब माताओंको चढ़ाया। (रा० प्र०) '*सुनाव सुहाई*' कहकर जनाया कि इनका 'स्वस्तिक' नाम था। इनपर घण्टे और पताकाएँ लगी हुई थीं, ये बहुत दृढ़ और सुन्दर थीं। इनमें चित्र बने थे। इत्यादि।

नोट—२ '*दंड चारि महँ भा सबु पारा*'। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि ५०० से अधिक नावें थीं—। '**पञ्चनावां शतान्येव समानिन्युः समन्ततः॥**' (१०) '**अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टा धराधराः।**...' (अध्या० ८९) दो मुहूर्तमें पार हुए। तीसरे मुहूर्तमें प्रयागके लिये प्रस्थान हो गया। प्रमाणं यथा—'**मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम्।**' (२१) '*सँभारा*'—जैसे पूर्व शृङ्गवेरपुरमें '*भरत सोध सबही कर लीन्हा*'। वैसे ही यहाँ भी उन्होंने ही देखभाल की। इससे उनका सबपर प्रेम दर्शित हो रहा है।

नोट—३ '*आगें किये निषादगन दीन्हेउ कटक चलाइ*' इति। (क) सरस्वती नदीको छोड़ अन्य नदियोंके पार जाना हो तो पार ही स्नानादि करना धर्मशास्त्रकी आज्ञा है; अतएव पार आकर सब प्रातःक्रियाएँ कीं। (रा० प०) (ख)—निषादराजके नौकरोंको आगे किया, क्योंकि अब जंगली रास्ता मिलेगा, जहाँ तहाँ रास्ता बनाना पड़ेगा। और रास्ता भी उनका जाना हुआ है। पुनः, सेना बहुत है, इससे बहुतसे सिपाही साथ किये कि रास्तेमें सेना भरतके सुखका सामान कर सकें। (पु० रा० कु०) फिर निषादराजको आगे करके उनके साथ माताओंकी पालकियाँ कर दीं। इनकी रक्षा और सुखकी देखभाल राजा (निषादराज) करें। फिर गुरु और सब विप्रवृन्द चले। उनकी सेवाके लिये शत्रुघ्नजीको साथ किया, जो बड़े आज्ञाकारी हैं।

कियेउ निषादनाथु अगुआईं। मातु पालकीं सकल चलाईं॥ १॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा। बिप्रन्ह सहित गवनु गुर कीन्हा॥ २॥
आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू। सुमिरे लषन सहित सियरामू॥ ३॥
गवने भरत पयादेहिं पाएँ। कोतल संग जाहिं डोरिआएँ॥ ४॥

शब्दार्थ—**अगुआईं**-अगुआ=आगे चलनेवाला, पथप्रदर्शक, अग्रसर। इस प्रकार अगुआई=मार्ग-प्रदर्शन, रहनुमाई; रास्ता दिखलाना, अग्रणी होनेकी क्रिया। अगुआई कियेउ=अगुआका काम किया, अगुआ बने। परंतु ऊपर प्रसंगके अनुकूल भरतका इसे अगुआ करना ऐसा अर्थ अधिक संगत जान पड़ता है। उस हालतमें छन्दके कारण 'ई' का बढ़ा लेना समझकर 'अगुआई' का अर्थ 'अगुआ' लेना होगा जैसा रा० प्र० और दीनजीने किया है। **कोतल**=सजा-सजाया राजाकी सवारीका घोड़ा, वह घोड़ा जो जरूरतके वक्तके लिये साथ रहता है, बिना सवारीका (यह फारसी शब्द है)। **'डोरिआएँ'**—बागडोर लगाये, हाथमें बागडोर पकड़े हुए।

अर्थ—निषादराजको अगुआ बनाया (वा, निषादराजने अगुआई की), सब माताओंकी पालकियाँ चलायीं॥ १॥ छोटे भाईको बुलाकर साथ कर दिया। ब्राह्मणोंसहित गुरुजी चले॥ २॥ तब स्वयं श्रीभरतजीने गंगाजीको प्रणाम किया, लक्ष्मणसमेत श्रीसीतारामजीका स्मरण किया॥ ३॥ श्रीभरतजी बिना पाद-त्राणके पैदल ही चले। साथमें कोतल घोड़े खाली 'डोरियाये' हुए चले जा रहे हैं (सेवक बागडोर थामे लिये जा रहे हैं)॥ ४॥

नोट—१ अवधसे चलनेपर जो क्रम था वह यहाँ बदल गया। वहाँ प्रथम गुरु, फिर विप्र, फिर पुरवासी तब माताएँ और यहाँ सेना, माताएँ, विप्रवृन्दसहित गुरु यह क्रम रखा। निषादराज और भाईको उनके साथ कर दिया कि वे लोग निश्चिन्त रहें। यह क्रम बदलनेका और सबको पहले ही रवाना कर देनेका आशय यह है कि यहाँसे श्रीरघुनाथजी पैदल ही गये हैं। मैं सवारीपर जाऊँ तो सेवाधर्मसे च्युत हो जाऊँगा, और *'मिटै भगति पथ होइ अनीती'।* यदि माताएँ पीछे रहीं तो वे सवारीपर चलनेका आग्रह अवश्य करेंगी। उनकी आज्ञाका उल्लंघन भी अधर्म है। दूसरे, सब पुरवासी भी सवारीसे उतर पड़ेंगे, वे शोकसे कृश हैं, सबको कष्ट होगा—यह भी नहीं देखा जायगा कि हमारे कारण सारे अवधको कष्ट हो। इससे पहले ही चलता कर दिया। पर सम्भव है कि उन लोगोंको सन्देह हो कि हम पैदल ही न चल रहे हों और इसीसे वे राहमें रुक जायँ, इस विचारसे उन्होंने सवारीके घोड़े साथ रख लिये कि हम पीछे आयँगे।

नोट—२ *'आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू'* इति। (क) गंगाजीको प्रणाम किया और श्रीसीताराम-लक्ष्मणको स्मरण किया। भाव यह कि गङ्गाजीसे मनमें प्रार्थना की कि शीघ्र उनके दर्शन मुझे कराइये। (पं०) अथवा, गङ्गा भगीरथनन्दिनी हैं, अतएव कुलकी पुरुषा हैं; इससे उनको प्रथम प्रणाम किया तब इनका स्मरण किया। (रा० प्र०) वा, तीर्थपरसे चले तो प्रणाम करना उचित ही है; अतः गङ्गाजीको प्रणाम किया। पयान-समय स्वामीका भागवतसहित स्मरण करके चले।

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ अस्व असवारा॥ ५॥
रामु पयादेहिं पाय सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥ ६॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥ ७॥
देखि भरतगति सुनि मृदु बानी। सब सेवकगन गरहिं गलानी॥ ८॥

अर्थ—उत्तम सेवक बारम्बार कह रहे हैं—हे नाथ! घोड़ेपर सवार हो लें॥ ५॥ भरतजी उत्तर देते हैं कि श्रीरामजी तो बिना पाद-त्राणके पैदल ही गये और हमारे लिये रथ, हाथी, घोड़े बनाये गये

है?॥ ६॥ मुझे तो ऐसा उचित है कि (जिस रास्ते स्वामी पैरोंसे गये हैं उसपर मेरा पैर न पड़े) मैं सिरके बल जाऊँ। सेवक-धर्म सबसे-कठिन धर्म है॥ ७॥ भरतजीकी दशा देखकर और कोमल वाणी सुनकर सब सेवक लोग ग्लानिसे गले जाते हैं॥ ८॥

नोट—१ *'कहहिं सुसेवक बारहिं बारा।'''* इति।—गङ्गाजीपर ही क्यों न कहा? वे समझे कि गङ्गातटपर सवार न होंगे, जिनको प्रणाम करें उनके सामने सवारीपर कैसे चढ़ेंगे? अतः कुछ दूर *'कोतल संग जाहिं डोरिआएँ।'* जब आगे भी न चढ़े तब कहा। पहले उत्तर न दिया, इसीसे बारंबार कहना लिखा। पुनः अच्छे सेवकका यही धर्म है। इसीसे *'सुसेवक'* कहा। एक बार कहकर चुप हो रहते, यह उत्तम सेवकका धर्म नहीं।

नोट—२ *'रामु पयादेहिं पाय सिधाए'''* इति। भाव कि हमारे लिये घोड़े आदि सजाये और श्रीरामजी पैदल गये? तब तुम कहाँ थे? क्या हमें उचित है कि स्वामी तो इसी मार्गपर पैदल गये और हम सवारीपर जायँ? हम पैदल पैरों-पैरों उसी पृथ्वीपर चल रहे हैं जिसपर स्वामीके चरण पड़े, उनके चरणसे स्पर्शित रज हमारे पैरोंतले पड़े यह भी अयोग्य है, यह भी अनुचित है कि मैं पैदल चल रहा हूँ, उचित यह था कि जहाँ स्वामीका चरण पड़ा वहाँ मेरा सिर पड़े, वह रज मेरे मस्तकपर चढ़ती। और, सवारी तो अत्यन्त अनुचित है। सेवकका धर्म बड़ा कठिन है, इसके आगे अन्य सब धर्म सुगम देख पड़ते हैं। (पु० रा० कु०), यथा, भर्तृहरिनीतिशतके **'मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः। क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥'** (५८) अर्थात् मौन रहे तो गूँगा, बोले तो पागल और बकवादी, पास रहे तो ढीठ, दूर रहे तो मूर्ख, क्षमासे डरपोक, न सह सके तो अकुलीन कहलाता है—सेवा-धर्म ऐसा कठिन है, योगियोंको भी अगम है।

नोट—३ *'सब सेवकगन गरहिं गलानी'* इति। अर्थात् हमको धिक्कार है। (पु० रा० कु०) भरतजीने सेवकोंसे नहीं कहा कि तुम भी जूते उतार डालो। परन्तु उनकी क्रियामात्रसे सेवकोंको मनस्ताप होना कि राजकुमार उबेने पाँव पैदल चलें और हमलोग जूते पहनें, हमें धिक्कार है। यह 'लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनि' है। (वीर) ग्लानि कि देखो भरतजी कैसा सेवक-धर्मका पालन कर रहे हैं, हम लोगोंसे नहीं बन पड़ता। (दीनजी) पुनः भाव कि जब वे पैरों चले तो ये सिरके बल चलनेको तैयार हैं, तब हम अब अपनेको किस अङ्गसे चलनेको कहें। (रा० प्र०)

दो०—भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥ २०३॥

झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकजकोस ओसकन जैसें॥ १॥
भरत पयादेहि आए आजू। भएउ दुखित सुनि सकल समाजू॥ २॥
खबरि लीन्ह सब लोग नहाए। कीन्ह प्रनामु त्रिबेनिहि आए॥ ३॥
सबिधि सितासित नीर नहाने। दिए दान महिसुर सनमाने॥ ४॥

शब्दार्थ—**पहर**=तीन घण्टेका समय। दिनरातमें आठ पहर होते हैं। दो पहर १२ बजे दिनको समाप्त होता है फिर ३ घण्टेतक तीसरा पहर होता है। **उमगि उमगि**=उमड़-उमड़कर, उत्साहित होकर, मग्न होकर। उमगना= उल्लासमें होना, हुलसना, जोशमें आना, उत्साहित होना, हदसे बाहर निकल पड़ना। **झलका** (सं० **ज्वल**=जलना। झल=ताप)=चलने या रगड़ लगने आदिके कारण शरीरमें पड़ा हुआ छाला, फफोला। झलकना=दिखायी पड़ना, चमकना। **पंकज**=कीचड़में उत्पन्न होनेवाला, कमल। **कोस** (कोष, कोश)=सम्पुट, फूलोंकी बँधी कली, खोल, समूह। 'पङ्कजकोश'=परिपुष्ट कमलकी कली, यथा—**'सजातयोः पंकजकोशयोः**

श्रियम्'—(रघुवंश)। पुनः, यथा—'*पंकजकोशमें भृङ्ग फँसेउ अपने मन यों करतो मनसूबा। होइगो प्रात उगैंगे दिवाकर जाउँगो धाम पराग लै खूबा*'—(बेनी)। कन=कण, बूँद। **सितासित**=सित+असित=उज्ज्वल और श्याम। **नीर**=जल। ओस=हवामें मिली भाप जो रातकी सरदीसे जमकर और जलबिन्दुके रूपमें हवासे अलग होकर उन पदार्थोंपर लग जाती है जिनमें गर्मी निकालनेकी शक्ति अधिक होती है, धारण करनेकी कम, जैसे घास आदि।

अर्थ—श्रीभरतजीने तीसरे पहर प्रयागमें प्रवेश किया। प्रेममें उमड़-उमड़कर सीताराम, सीताराम कहते जाते हैं॥ २०३॥ उनके पैरोंमें छाले कैसे झलक रहे है जैसे कमलकोशमें ओसके कण झलकते हैं॥ १॥ श्रीभरतजी आज पैदल ही आये हैं, यह सुनकर सब समाज दुःखी हुआ॥ २॥ भरतजीने पता लिया कि सब लोग स्नान कर चुके। तब त्रिवेणीपर आकर प्रणाम किया॥ ३॥ विधिपूर्वक श्यामल (यमुनाके) और गौर (गङ्गाके) जलमें अर्थात् गङ्गा-यमुनासङ्गमपर स्नान किया और ब्राह्मणोंको दान देकर उनका सम्मान किया॥ ४॥

नोट—१ '*भरत तीसरे पहर*…' इति। सब सवारीपर आये, ये पैदल। इसीसे वे दोपहरको पहुँचे, स्नान कर चुके तब ये पहुँचे, यह बात '*खबरि लीन्ह सबलोग नहाए*' से सिद्ध होती है। पुनः, यहाँ यह भी दिखाया कि प्रेममें नेम नहीं रहता! 'सियराम' कहनेका नियम वा क्रम है, प्रेममें उलटा 'रामसिय' कह रहे हैं। यह प्रेमकी दशा है—(पु० रा० कु०)। अथवा, भरतजीके मनमें तो रामजीका नित्य स्मरण होता ही है। पर तीर्थयात्राका विधान है कि सम्पूर्ण मार्गमें नाम-स्मरण करता चले। अतः उनका स्मरण करना लिखा गया। (पं०)

नोट—२ '*पंकजकोस ओसकन जैसें*'। कमलपत्रोंके भीतर जैसे ओसके कण हों। छालेके भीतर जल रहता है; इससे कोशके भीतर ओसकणकी उपमा दी। (पु० रा० कु०) जो झलका पड़ गया वह फूटता नहीं है। इसपर दीपककार कहते हैं कि झलकेका आधार श्रीभरतजी हैं और पृथ्वी आधेय है। श्रीभरतजीकी विरहाग्नि ही झलकारूपसे शोभित हो रही है। वह यदि फूट जायगा तो सीताजीकी माता पृथ्वीको वह विरहज्वाला दुःख देगी, अतः वह फूटता नहीं। (अ० दी० च)

नोट—३ '*भएउ दुखित सुनि सकल समाजू*' इति। भरतजीके कष्टको और अपनी भूलको समझकर सारा समाज दुःखी हुआ कि जिस मार्गमें श्रीरामजी पैदल गये हैं उसमें हमलोग सवारियोंपर बैठकर आये; बड़ी भूल हुई। यहाँ भी 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' है। (वीरकवि)

नोट—४ '*खबर लीन्ह*…' इति। भरतजी पैदल थे; इससे सबके पीछे पहुँचे। सब लोग प्रथम ही आ गये थे; इससे प्रथम ही स्नान कर चुके।

नोट—५ '*सबिधि सितासित नीर नहाने*'।—स्नानकी विधि पद्मपुराण और प्रयागमाहात्म्यमें दी है—(वै०) त्रिवेणीमें सरस्वतीका लाल रंग भी है पर वह इतना सूक्ष्म है कि दो ही रंग, श्वेत गङ्गाजीका और श्याम यमुनाजीका प्रत्यक्ष देख पड़ता है। इसीसे दो रंग कहे और यहाँ दो ही रंगोंका प्रयोजन है। श्यामरंगसे श्रीरामजीके रूपका स्मरण और श्वेतसे श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीका स्वरूप ध्यानमें आ गया।

देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥ ५॥
सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ॥ ६॥
मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू॥ ७॥
अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी॥ ८॥

शब्दार्थ—'**धवल**'=उज्ज्वल, सफेद। '**हलोरे**'=लहरें, तरंगें। **कुकर्म**=बुरा कर्म, '**कामप्रद**'=मनकी कामनाओंको देने वा पूर्ण करनेवाले। '**सुजान**'=समझदार, चतुर, मनकी जाननेवाले। '**सफल करना**'=व्यर्थ वा खाली न जाने देना, पूरी करना।

अर्थ—श्रीयमुना एवं श्रीगङ्गाजीकी श्याम और श्वेत लहरोंको देखते ही श्रीभरतजीका शरीर पुलकित हो गया। उन्होंने हाथ जोड़े (और कहा कि)॥५॥ हे तीर्थराज! आप सब कामनाओंके पूर्ण करनेवाले हैं, आपका प्रभाव वेदोंमें प्रसिद्ध है और संसारमें प्रकट है॥६॥ अपना धर्म त्यागकर आज भिक्षा माँगता हूँ। आर्त क्या कुकर्म नहीं करता? अर्थात् दुःखी लोगोंको सभी कुकर्म करने पड़ते हैं॥७॥ ऐसा जीसे जानकर सुजान उत्तम दानी संसारमें याचकोंकी वाणी सफल करते हैं। अर्थात् जो वे माँगते हैं वही उनको देते हैं, अतएव आप भी जो भिक्षा मैं माँगता हूँ वही दें॥८॥

नोट—१ *'देखत स्यामल धवल हलोरे…'* इति। (क) श्याम और श्वेत रंग एक ही साथ देखकर उद्दीपन हुआ। साँवली गोरी जोड़ी—श्रीसीताराम, श्रीरामलक्ष्मण—का ध्यान उपस्थित हो आया, इससे शरीर पुलकित हो गया, नहीं तो रामानन्य भक्त अन्य पदार्थोंको देखकर कभी पुलकित नहीं होते। रा० प्र० का मत है कि तीर्थके दर्शनसे भी पुलकित होना तीर्थमें भक्तिका द्योतक है। (ख) श्रीनंगेपरमहंसजी सितासितका अर्थ ठंढा और गर्म करते हुए लिखते हैं कि 'नहाने क्रियाके साथ ठंढा-गर्म जल इसलिये दिया है कि सर्द-गर्मकी प्रतीति स्पर्शसे होती है जो त्वचा इन्द्रियका विषय है। गंगा-यमुना दोनों नदियोंके जलमें एक ठंढा और दूसरा गर्म अवश्य रहता है, यह नहाते समय शरीरको मालूम पड़ता है। इसीसे सङ्गमकी पहचान होती है। आज भी मर्मी महात्मा लोग बरसातमें जब दोनों नदियोंका रंग एक-सा हो जाता है तब सङ्गमकी पहचान ठण्ढे और गर्म जलके शरीरमें स्पर्शसे करके स्नान करते हैं। *'देखत'* क्रियाके साथ श्यामल और धवल रंगका निर्णय दिया गया है जो नेत्रका विषय है। वर्षाकालके अतिरिक्त सदा यमुनाजल श्यामल और गङ्गाजल धवल बना रहता है। अतएव *'सितासित'* स्नानके विषय और श्यामल धवल देखनेके विषयमें दो लक्ष्य दिये गये हैं।'

नोट—२ *'सकल कामप्रद तीरथराऊ…'* इति।—सबकी और सब कामनाओंके देनेवाले हैं, यथा—*'चारि पदारथ भरा भँडारू…'* *'सेवहिं सुकृती साधु सुचि पावहिं सब मनकाम।'* (१०५)। त्रिविध प्रकारके जीवोंमें कोई भी ऐसा नहीं जिसकी इच्छा न पूर्ण करते हों। सभी तीर्थ कामप्रद हैं पर आप तीर्थोंके राजा हैं; अतएव *'सकल कामप्रद'* और *'बेद बिदित…'* हैं।'

नोट—३ *'बेद बिदित जग प्रकट प्रभाऊ'* अर्थात् वेद कहते हैं और संसारमें देखनेमें आता है, यथा—*'देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ।'* (१। २। १३) वा, आपका प्रकट प्रभाव लोक और वेदमें विदित है। यथा—*'बंदी बेद पुरानगन कहहिं बिमल गुनग्राम।'* (१०५) प० पु० स्वर्गखण्डमें विस्तारसे माहात्म्य कहा गया है। —प्रयागमें ब्रह्मादि देवता एकत्रित होकर प्राणियोंकी रक्षा करते हैं। स्वयं इन्द्र विशेषरूपसे प्रयागतीर्थकी रक्षा करते हैं तथा विष्णुभगवान् प्रयागके सर्वमान्य मण्डलकी रक्षा करते हैं। भगवान् शङ्कर वटवृक्षकी रक्षा करते हैं। दर्शन-स्मरणसे पाप छूट जाते हैं। कहीं भी प्रयागका स्मरण करते हुए मरनेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। जो सत्यवादी, क्रोधजयी, अहिंसा-धर्ममें स्थित, धर्मानुरागी, तत्त्वज्ञ तथा गौ और ब्राह्मणोंके हितमें तत्पर होकर गङ्गा-यमुनाके बीचमें स्नान करता है, वह सारे पापोंसे छूट जाता है तथा मनचीते समस्त भोगोंको पूर्णरूपसे प्राप्त कर लेता है। यथा—'**गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नातो मुच्येत किल्बिषात्। मनसा चिन्तितान् कामान् सम्यक् प्राप्नोति पुष्कलान्॥**' (प० पु० स्वर्ग० ४१। १७)

'मागऊँ भीख त्यागि निज धरमू'*

'निजधर्म' के दो अर्थ कहे गये हैं। १ क्षत्रियधर्म—यह कि क्षत्रिय किसीसे माँगते नहीं। २—अनन्य भक्तोंका धर्म कि अपने स्वामीको छोड़ कदापि दूसरेसे याचना न करे। यथा—*'जग जाँचिये कोउ न जाँचिये जो जिय जाँचिये जानकीजानहि रे। जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहानहि*

* 'नरेन्द्रयाञ्चा कविभिर्विगर्हिता राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिना। तथाऽपि याचे तव सौहृक्षया कन्यां त्वदीयां नहि शुक्ल द्रावयम्॥' (वन्दनपाठक) श्लोक जैसा उन्होंने लिखा है वैसा ही हमने दे दिया है।

रे॥ *गति देखु बिचारि बिभीषन की अरु आनु हिये हनुमानहि रे। तुलसी भजु दारिद-दोषदवानल संकट कोटि कृपानहि रे।'* (क० उ० २८) *'जानकी जीवनको जन ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाचत औरहि'*—(क० ७। २७)

रा० प्र० कार कहते हैं कि—माँगना धर्म ब्राह्मणका है, क्षत्रियका नहीं। इस अर्थमें दोष आता है क्योंकि ईश्वर, देवता, तीर्थादिसे माँगना सब वर्णोंका धर्म है। श्रीचक्रवर्ती महाराजने भी माँगा है, यथा—*'बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं॥' 'सुमिरि महेसहि कहहिं बहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥ आसुतोष तुम्ह औढर दानी। आरति हरहु दीनजन जानी॥'* और भरतजीने भी माँगा है, यथा—*'माँगहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥'* इस प्रकार अनेक स्थानोंमें क्षत्रियोंका माँगना पुराणोंमें लिखा है। दूसरा दोष यह आता है कि सर्व-धर्म त्यागपूर्वक प्रभुकी शरण जाना यह परमधर्म है जैसा स्वयं भगवान्‌ने कहा है—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज',** इस परमधर्मकी याचना करनेमें *'आरत काह न करै कुकरमू'* कहना क्योंकर योग्य होगा? वह तो परमधर्म है न कि कुकर्म। अतएव पहला अर्थ ठीक नहीं है। बैजनाथजीका भी यही मत है।

अ० दी० कारका मत है कि श्रीरामजीको छोड़ अन्यसे माँगना कुकर्म है। भरतजीके कथनका आशय यह है कि मैं अपने कर्तव्यके कारण डरता हूँ कि प्रभु मुझे कुटिल समझेंगे और उनके स्वभावको सोचता हूँ तो ऐसा मनमें उत्पन्न नहीं होता, इसी भयसे मैं उनसे याचना न करके आपसे भीख माँगता हूँ यही कुकर्म करता हूँ। अपने प्रभुको छोड़ दूसरेसे माँगना यह आर्त्त भक्तोंका लक्षण है। भरतजीके वाक्योंका भाव यह है कि मैं नीच भक्तोंके लीकपर चलकर आपसे माँगता हूँ यह कुकर्म है। श्रेष्ठ भक्तका जो धर्म है कि किसीसे न माँगे—*'होइ अधीन जाँचै नहीं सीस नाइ नहिं लेइ',* उसे मैं छोड़ रहा हूँ।

प० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'भरतजीने महेशजीसे जो याचना की *'कुसल मातु पितु परिजन भाई'* वह परमधर्मकी याचना नहीं थी, प्रत्युत साधारण लौकिक धर्मकी थी, पर वहाँ *'आरत काह न करै कुकरमू'* नहीं कहा। परमधर्मकी याचना श्रीसीताजीने भी देवताओं, गणेशजी, शिवधनु, भवानी आदिसे की है। गोस्वामीजीने विनयमें सभी देवोंसे याचना करके *'राम चरन रति'* की याचना की है। किसीसे परमधर्मकी याचना करना कुकर्म नहीं हो सकता। अतः यहाँ *'तीरथराऊ'* में के *'राऊ'* शब्दपर कटाक्ष है। तीर्थराज तो राजा ही हैं। भरतजी राजपुत्र हैं। राजपुत्र वा क्षत्रियको राजासे माँगना कुकर्म है?

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि—(क) भरतजीने वर्णधर्मके धर्मी बनकर श्रीरामजीकी सेवकाईके लिये उस अपने क्षत्रियवर्णधर्मको छोड़ा है। क्षत्रियके लिये याचक बनकर भीख माँगना धर्म नहीं है और भरतजी याचक बनकर भीख माँग रहे हैं—*'माँगउँ भीख', 'सफल करहिं जग जाचक बानी।'* अतः निज धर्म छोड़ना कहा। परमधर्मके लिये क्षत्रियधर्मका त्याग करनेसे दोष नहीं लगता, क्योंकि भगवान् स्वयं उस दोषको छुड़ा देते हैं। प्रमाण—**'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'** (गीता १८। ६६) (ख) 'भरतजीने शृङ्गवेरपुरमें गङ्गाजीसे वर माँगा है। वहाँ धर्म छोड़ना क्यों नहीं कहा?' इसका उत्तर यह है कि वहाँ वर माँगा है, भीख नहीं। वर माँगना क्षत्रियका भी धर्म है। भानुप्रतापने कपटी मुनिसे वर माँगा—*'प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी। माँगि अगम बर होउँ असोकी॥'* (१। १६४। ८) *'जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ। एक छत्र रिपु हीन महि राज कलप सत होउ॥'* फिर वहाँ तो गङ्गाजी ब्रह्मरूपा हैं, यथा—*'मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी'* और प्रयागराजमें तो राजासे भीख माँगी है (प्रयागराज तीर्थोंके राजा हैं)। अतः गङ्गाजीसे माँगनेमें दोष नहीं राजासे माँगनेमें दोष है। (ग) किसी-किसीने अनन्यताको निजधर्म कहा है; पर ऐसा अर्थ करनेसे सेवकपनेमें कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि जब अनन्यता छोड़ी तब प्रीति मिली, अतः अनन्यता छोड़नेकी हानि, प्रीति मिलनेका लाभ ये दोनों बराबर हो गये।'

वि० त्रि०—*'सकल कामप्रद तीरथराऊ।'* प्रयागराज स्वयं सब कामनाके देनेवाले हैं। मज्जन करनेवालेको

चारों फलकी प्राप्ति होती है। तीर्थराजमें अपना धर्म त्याग करके भरतजीको भीख माँगनेकी क्या आवश्यकता पड़ी? बात यह हुई कि जिस वस्तुकी भरतजीको कामना है, वह उनके दानके भण्डारमें नहीं है, यथा—*'चारि पदारथ भरा भँडारू।'* और भरतजीको उनकी रुचि नहीं, वे स्पष्ट कहते हैं कि *'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निर्बान'*। उन्हें *'रामपद रति'* की आवश्यकता है, और उसके लिये आर्त्त हैं, अतः प्रयागराजको सुजान सुदानी समझकर कि ये जैसे होगा तैसे याचककी वाणी निष्फल न होने देवेंगे, उनसे *'रामचरन रति'* की भिक्षा माँग रहे हैं।

बाबा हरिदासजीका मत है कि 'यमुनाजी सूर्यकन्या हैं, भरतजी सूर्यकुलके हैं, निजकुलकी सुतासे भीख माँगना कुकर्म है। और गङ्गा भी भगीरथनन्दिनी हैं, इसीलिये उन्होंने वर न दिया, समझा भर दिया कि तुम आर्त्त हो, रामविमुख नहीं हो, फिर भी रामचरणमें रति माँगते हो। यह सुनकर भरतको बोध हो गया।' अथवा, २—हमारे धर्म जो त्याग ही गये उसे माँगते हैं—*'हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥'* वा निज धर्म माता-पिता-गुरुकी आज्ञा मानना है। उसको त्यागकर परमधर्म रामप्रेम माँगते हैं। (शीलावृत्त)

नोट—४ *'आरत काह न करइ कुकरमू'* यथा—*'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इन कहँ बिलग न मानिए बोलहिं न सँभारी॥'*—(विनय०)

नोट—५ पं०—*'अस जिय जानि सुजान सुदानी'''* इति। सुजान हैं, मनकी जानते हैं; अतएव उसकी इच्छानुकूल दान देते हैं। सुदानी—अर्थात् और तीर्थादि भी दानी हैं, आप *'सुदानी'* अर्थात् उदार दाता हैं। यह भी नहीं विचार करते कि इसके पास तो है, इसे न देना चाहिये।

दो०—अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति रामपद यह बरदानु न आन॥ २०४॥
जानहु रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥ १॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥ २॥
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जल पबि पाहन डारउ॥ ३॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेम सब भाँति भलाई॥ ४॥
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥ ५॥

शब्दार्थ—**निरबान गति**=मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस्, मुक्ति, स्वर्गप्राप्ति कैवल्य, भवसंततिका उच्छेद; अस्ति नास्ति, उभय और अनुभव इस चतुष्कोटिसे विनिर्मुक्ति। **बान** (वर्ण)=रंग, आब, कान्ति। **अनुदिन**=प्रतिदिन, नित्यप्रति, दिन-दिन। **घटि जाई**=हीनता, न्यूनता, अप्रतिष्ठा वा रुसवाई हो जायगी; कदर कम हो जायगी; घट जायगा; छोटा पड़ जायगा। **प्रियतम**=परम प्यारा स्वामी।

अर्थ—मुझे न अर्थकी, न धर्मकी, न कामकी इच्छा है और न मोक्ष ही चाहता हूँ, 'जन्म-जन्म श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हो' यही वरदान चाहता हूँ, दूसरा कुछ नहीं॥ २०४॥ श्रीरामजी मुझे कुटिल भले ही जानें, लोग मुझे गुरु और स्वामि-द्रोही (भले ही) कहें॥ १॥ पर श्रीसीतारामजीके चरणोंमें मेरा प्रेम दिन-दिन आपकी कृपासे बढ़ता जाय (मैं यही चाहता हूँ)॥ २॥ (चातककी) सुध चाहे मेघ जन्मभर भुला दे, जल माँगनेपर चाहे वह वज्र और पत्थर (ओले) गिरावे॥ ३॥ पर चातककी रट घटनेसे उसकी प्रतिष्ठा चली जायगी, सबकी दृष्टिसे वह उतर जायगा, प्रेम बढ़नेसे ही सब तरह (उसकी) भलाई है॥ ४॥ जैसे तपानेसे सोनेकी आब-ताब-चमक-दमक बढ़ती है वैसे ही परम प्यारे स्वामीके चरणोंमें प्रेम-नेम निबाहनेसे (सेवककी प्रतिष्ठा बढ़ती है)॥ ५॥

पु० रा० कु०—१ *'अरथ न धरम न काम रुचि'''* इति। अर्थ-धर्म-कामके लिये रुचि नहीं अर्थात् ये तो प्राप्त ही हैं, इससे इनकी ओरसे रुचि नहीं, निर्वाणगतिकी चाह नहीं कि मिले। पुनः चारों पदार्थोंका

निषेध प्रथम ही कर दिया कि कहीं यही न हमको दे दें, यहीं इनके भण्डारमें भरा हुआ है। मुक्ति नहीं चाहते तो जन्म अवश्य होगा, सो हो और बारम्बार हो, पर सब जन्मोंमें श्रीरामपदमें प्रेम हो यही वरदान चाहता हूँ, अन्य कुछ नहीं। भक्ति चाहते हैं यह सिद्धान्त है। यह भक्ति किस लिये माँगते हैं, क्या इसलिये कि श्रीराम प्रसन्न हों या लोग बड़ाई करें? नहीं, हमारी एकाङ्गी प्रीति हो, इसकी हमको चिन्ता नहीं कि वे हमपर प्रसन्न रहें चाहे वे हमें सदैव क्रूर कुटिल ही समझते रहें, लोकमें हमारी निन्दा क्यों न होती रहे कि यह गुरु-साहिब-द्रोही है—इसकी फिक्र नहीं, यह सब हो पर हमारा प्रेम नित्यप्रति उनमें बढ़ता ही जाय। फिर ऐसे प्रेमियोंके दृष्टान्त देते हैं।

चार पदार्थके अतिरिक्त तो कुछ है ही नहीं फिर *'न आन'* का क्या भाव? भागवतमें ५ प्रकारकी मुक्तियाँ कही गयी हैं, वह पाँचवीं 'सार्ष्टि' है, अर्थात् समान ऐश्वर्य, सो भी नहीं चाहते।

अ० दी० कार *'जनम जनम रति राम पद'* का भावार्थ यह लिखते हैं कि श्रीभरतजी यह वर माँगते हैं कि 'श्रीरामजीहीके साथ मेरा जन्म हो अर्थात् मेरा जन्म भी हो तो श्रीरामजी साथ रहें, उनमें प्रेम बना रहे और श्रीरघुबीर बिना टेकपूर्वक मैं सब वस्तुओंसे रहित समझता हूँ।' (अ० दी० च०)

नोट—१ दीनजीकी रायमें अर्धाली ३, ४, ५ ग्रन्थकारके वचन हैं। वे कहते हैं कि इसी कारणसे (जो ३, ४, ५ में बताया गया) भरतजीका वर माँगना अति उत्तम बात हुई। यही मत पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका है। वे कहते हैं कि यहाँ कवि पाठकोंको शिक्षा देता हुआ भरतजीको चातक और सुवर्णसे उपमित करता है। चातकप्रिय पयोदके दोषको नहीं देखता, और सुवर्ण जलानेसे और चमकता है। इसी भाँति भरतलाल रामचरणरति चाहते हैं; भले ही रामजी चाहे उन्हें कुटिल ही समझें। और लोगोंके, उन्हें 'गुरुसाहिब द्रोही' कहकर, जलानेपर भी उनका मन प्रेमपथसे नहीं मुड़ता, बल्कि और भी अग्रसर होता है। इसी भाँति भक्तोंको प्रियतम-पदप्रेमके निर्वाहमें कटिबद्ध रहना चाहिये। यही शिक्षा गोस्वामीजीकी प्रेमपथके पथिकोंके लिये है।

नोट—२ बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यहाँ मेघ और अग्निके स्थानपर श्रीरामजी हैं, चातक और स्वर्णके स्थानमें श्रीभरतजी अपनेको कहते हैं। अर्थात् (जैसे) अपमान सहकर चातक बड़ाई पाता है और कष्ट सहकर कनक रंगदार होता है वैसे ही हम हो जावें—यह त्रिवेणीसे प्रार्थना है। *'गुरु'* से वे यहाँ पिताका भाव लेते हैं परंतु और सबोंका मत है कि गुरु-उपदेश न स्वीकार किया था; उसीपर यहाँ लक्ष्य है। पुनः *'गुरु'* में माता-पिता-गुरु और सभी बड़ोंका समावेश है, सभीको क्यों न ले लें—यह और भी उत्तम होगा।

पु० रा० कु०—२ *'जानहु राम कुटिल''''* इति। (क) यदि कहा जाय कि ऐसा भी कहीं होता है कि जिसमें कोई प्रेम करे वह प्रेमीको कुटिल समझे, उसपर दृष्टान्त देते हैं चातक और स्वर्णका। चातक मेघसे प्रेम करता है, एक स्वातिबुन्द भर चाहता है; पर वह उसपर वज्र गिराता, पत्थर बरसाता है तो भी वह अपना प्रेम नहीं छोड़ता। उसका नेम है—रट लगाये रहना। उस नियमको घटने नहीं देता चाहे कितना ही कष्ट मेघ क्यों न दे। *'जलद सुरति बिसारे'* और *'राम कुटिल जानें', 'जाचत जल पबि पाहन डारउ'* और *'लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही'* परस्पर उपमान, उपमेय वाक्य हैं। इसमें भी गुरुद्रोही कहना वज्र डालना और स्वामिद्रोही कहना पत्थर गिराना है। निषादराज और लक्ष्मणजीका सन्देह करना नाम धरना है। (ग) जैसे वज्र और पत्थर गिरानेपर चातक रटन छोड़ दे या कम कर दे तो उसकी प्रीति न ठहरी, वह प्रेमी नहीं कहा जा सकता, वैसे ही श्रीरामजीके कुटिल जाननेसे या लोगोंके अपवादसे मुझमें प्रेम कम हो जाय तो वह प्रेम नहीं कहा जा सकता, वह प्रेम आदर्श नहीं, वैसा प्रेम मुझे न चाहिये। मेरा प्रेम दिन-दिन वृद्धिको प्राप्त होता रहे, इसीमें मेरा भला है। सोना जैसे-जैसे आगमें तपाया जाता है तैसे-तैसे दूना रंग चढ़ता है वैसे ही प्यारेके पदमें कष्ट सहनकर प्रेम निबाहनेमें ही प्रेमीकी शोभा है और असलियत (सचाई) जान पड़ती है। चातकके प्रेम निर्वाहहीमें भलाई है। मुझे भी ऐसा प्रेमका निर्वाह दीजिये।

☞ अनन्यताका सिद्धान्त दोहावली *'चातक छत्तीसा'* (दोहा २७७ से ३१२) में विस्तारपूर्वक कविने वर्णन किया है। उद्धरण पूर्व दिये जा चुके हैं।

नोट—३ (क) पहले केवल *'रति रामपद'* यही माँगा, फिर उस प्रेमकी वृद्धि माँगी, उस प्रेमका एकाङ्गी निर्वाह माँगा। निरादर अर्थात् अपमान, लोकापवाद भी सहनेपर एवं कैसा ही कठिन कष्ट क्यों न पड़े तब भी प्रेम न घटे वरन् ऐसा होनेपर ही नित्यप्रति प्रेम बढ़ता ही रहे और इसके दृष्टान्त देकर बताया कि किस तरहका प्रेम-निर्वाह चाहते हैं। (ख) पहले *'रामपद'* और दूसरी बार *'सीता रामचरन'* पद देनेसे जान पड़ता है कि दोनोंके चरणोंका प्रेम अभीष्ट है पर छन्दके कारण पहले एक ही नाम दिया था। (ग) *'अनुग्रह तोरें'* अर्थात् आपकी कृपासे यह प्राप्त हो सकेगा।

भक्तिका तात्त्विक स्वरूप

मा० हं०—हम समझते हैं कि स्वामीजीने भागवतकी भक्तिका तत्त्व अपनी रामायणमें लिया है। इसलिये प्रथम यहाँ भागवतकी भक्तिका स्वरूप स्पष्ट होना चाहिये। २-भगवान् श्रीनृसिंहजीने प्रह्लादजीसे वर माँगनेको कहा उसपर प्रह्लादजी कहते हैं—'**यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥ आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः। न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः॥ अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः। नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥ यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ। कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥**' (स्कं० ७। १०। ४—७) अर्थात्—जो आपसे वैभवकी आशा रखता हो वह भृत्य ही नहीं, बनिया है। अपने स्वामीसे वर (कृपा) की इच्छा रखनेवाला भृत्य ही नहीं है, और भृत्यपर अपना स्वामित्व स्थापित करनेके हेतुसे वैभव देनेकी इच्छा करनेवाला स्वामी ही नहीं है। मैं आपका निष्काम भक्त हूँ और आप मेरे निष्काम स्वामी हैं। राजा-सेवकका सम्बन्ध जैसा अर्थापेक्षी होता है वैसा आपका और मेरा कदापि न हो। हे वरदश्रेष्ठ भगवन्! जो आप मुझे कामपूरक वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे चित्तमें कोई भी वासना अंकुरित न हो।

इस भाषणका हृद्गत हमारी दृष्टिसे '**अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः**' में ग्रथित है। '**अहं त्वकामस्त्वद्भक्तः**' इस पदके अनुसार सेवकको स्वामीसे स्वामिभक्तिके अतिरिक्त दूसरी कोई भी आशा न रखनी चाहिये। अर्थात् निरपेक्षता ही सेवकका परमधर्म हुआ। सेवकको स्वामीकी कृपा अथवा अकृपा दोनोंकी भी परवा न करनी चाहिये। उसी तरह स्वामी भी सेवकपर निरपेक्ष प्रेम करनेवाला ही होना चाहिये। '**अनपाश्रयः**' शब्दके अनुसार स्वामीको सेवकसे सेवाकी भी इच्छा मनमें नहीं रखनी चाहिये। इसका अर्थ यही हुआ कि स्वामी और सेवक दोनों पूर्ण स्वावलम्बी बने रहें और परस्पर एक-दूसरेपर निःस्वार्थ प्रेम करते हैं। .... ऐसे सेव्य-सेवकोंमें एक विलक्षण सामान्य धर्म रहता है, जिसका बलिष्ठ प्रभाव दोनोंको दबाये रहता है। यह सामान्य धर्म उनकी परस्पर विषयक कृतज्ञता है। इसी कृतज्ञताके कारण सेव्य-सेवक सहृदय (समरस) बन जाते हैं। इस बातके प्रमाणमें स्कं ९ अ० ४ का निम्न श्लोक विचारणीय हैं। '**अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा॥ ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥**' (६४३—६५)

'**अहं भक्तपराधीनः**' और '**कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे**' से सेव्यकी कृतज्ञता और '**येषां गतिरहं परा**' एवं '**ये दारागार**' इत्यादिसे सेवककी कृतज्ञता पूर्णतासे स्पष्ट होती है।

ऊपरका भक्तिरहस्य स्वामीजीने इन प्रकारोंसे अपनी कवितामें उतारा है—

१—सेवकका *'नैरपेक्ष्य'* प्रयागराजको भरतजीकी विज्ञप्ति—*'जानहु राम कुटिल करि मोही'* से *'तिमि प्रियतमपद नेम निबाहे'* में है। यह वर्णन सेवककी निरपेक्षता बतलाकर उसकी अनन्यता, अहेतुकता और अविरल तथा अविचल स्निग्धता जतलाता है, इसपर विशेषतासे ध्यान देना चाहिये।

२—सेव्यका नैरपेक्ष्य सुतीक्ष्णजीकी रामजीसे वरयाचना '**अनुजजानकीसहित प्रभु चाप बान धर राम। मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निःकाम॥**' में देखिये। और,

३—सेव्य-सेवकको परस्पर कृतज्ञता श्रीरामभरद्वाज-संवादमें देख लीजिये। भरद्वाजजी कहते हैं—'*करम बचन मन छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं किये कोटि उपचार॥*' रामजीका उत्तर '*सो बड़ सो सब गुनगन गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥*' ऐसा संवाद होते-होते '*मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥*' देव और भक्त परस्परोंसे देवतार्चन बने और '**यतो वाचो निवर्तन्ते**' ऐसे आनन्दसमाधिमें निमग्न हो गये।—(अ० १०८। १—४) देखिये।

पं० यादवशंकर जामदार—भरतजीका मुख्य-से-मुख्य तत्त्व जो स्वामीजीने सामने उपस्थित किया है वह '*साधन सिद्ध राम पग नेहू*' है। यह केवल सूत्ररूपसे है। इसका उत्तानार्थ भरतजीका साधन और सिद्धि दोनों रामपदप्रेम है। देखनेमें यह बहुत ही सरल है, परंतु यथार्थमें बड़ा ही गम्भीर अर्थ है उसमें हमें निम्नांकित बड़े ही महत्त्वके प्रमेय निष्पन्न होते हुए दिखाते हैं।—

(१) साध्य '*रामपद प्रेम*' ही है, न कि रामपद (२) भक्तिमें साध्यसाधन (यानी प्राप्य-प्रापक) भावका भाग है ही नहीं। (३) रामप्रेम जितना उजृम्भित हो उतनी ही सिद्धि प्राप्त होती जाती है इस कारण असमाधानको स्थान ही नहीं। (४) रामप्रेम ज्यों-ज्यों वृद्धिगत हो त्यों-त्यों रामपदका सान्निध्य आप-ही-आप सुलभ होता जाता है।

भरतजीके आचरणमें स्वामीजीने समय-समयपर ये प्रमेय दिखलाये हैं। इन सबका मन्थन करना यहाँ सम्भव नहीं। बाध्यताके कारण यहाँ केवल उस खास प्रसङ्गको देते हैं जिसमें कि ये प्रमेय सङ्कलित-रूपसे आ चुके हैं। वह प्रसङ्ग प्रयागराजसे भरतजीकी विज्ञप्ति है—'*माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू।*.....'

ये विचार बड़ी ही उच्च श्रेणीके होनेसे सामान्य जन-शिक्षाके लिये उनका विशेष उपयोग हो नहीं सकता। बहुधा इस विचारसे ही स्वामीजीने भरतचरित्रमें प्राथमिक शिक्षाके पाठ दिये हैं। उनमेंके विशेष महत्त्वके तीन पाठ हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

(पाठ पहला)—'*गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भल जानी॥ उचित कि अनुचित किएँ बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥*' यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस पाठका बरतना '**स्वे स्वेऽधिकारे वा निष्ठा सगुणः परिकीर्तितः**' पाठ भागवतीय नियमके अनुसार होता रहे। आशा है कि भरतजीके भाषणके पूर्वोत्तर सन्दर्भके और उनके अधिकारके विचारसे यह पाठका बरतना समझमें आ जायगा।

(पाठ दूसरा)—'*जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥ सेवक हित साहिब सेवकाई। करइ सकल सुख लोभ बिहाई॥ स्वारथ नाथ फिरे सबही का। किये रजाइ कोटि बिधि नीका॥ यह स्वारथ परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू॥*'

इस पाठमें सेवाधर्मका हृदय बतलाया है। उसे विचारपूर्वक देखना चाहिये।

(पाठ तीसरा)—'*आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिन जग जाना॥ स्वामिधरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंग प्रेमहि न प्रबोधू॥ राखि रामरुख धरमब्रत पराधीन मोहि जानि।*' ऐसी स्थितीमें '*आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।*'

इस पाठमें सेवाधर्मका स्वरूप और आचार बतलाया गया। परंतु साथ-ही-साथ यह भी कह दिया है कि '**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।**'

इन पाठोंका उपयोग भरतजीद्वारा कविने किस प्रकार किया हुआ दिखलाया है इस बातके निदर्शक प्रसङ्ग ये हैं—अयोध्या छोड़ते समय भरतजीने सारे राज्यकी व्यवस्थाकी उस समयके उनके उद्गार॥ १८५-१८६॥ भरतजी शृङ्गवेरपुरसे प्रयागको पैदल आये, राहमें उनका और उनके सहीसोंका भाषण, इत्यादि इत्यादि,—२०३ (५—८) १८५ (१—५) देखिये।

भरत बचन सुनि माँझ त्रिबेनी। भइ मृदु बानि सुमंगल देनी॥ ६॥
तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू॥ ७॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं॥ ८॥
दो०—तनु पुलकेउ हियहरषु सुनि बेनि बचन अनुकूल।
भरत धन्य कहि धन्य सुर हरषित बरषहिं फूल॥ २०५॥

शब्दार्थ—देनी (दायिनी)=देनेवाली। बेनि=बेनी (त्रिवेणी) के। अनुकूल=अपने मुआफिक, अपने पक्षके सहायक, हितकर, प्रसन्नतासे कहे हुए।

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सुनकर त्रिवेणीके मध्य (बीच जलधारा) से सुन्दर मङ्गलकी देनेवाली मीठी कोमल वाणी हुई॥ ६॥ हे तात भरत! तुम सब प्रकारसे साधु हो। श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें तुम्हारा अथाह प्रेम है॥ ७॥ तुम मनमें व्यर्थ ग्लानि कर रहे हो। तुम्हारे समान श्रीरामजीको कोई भी प्यारा नहीं है॥ ८॥ त्रिवेणीके अनुकूल वचन सुनकर उनका शरीर पुलकित हो गया, हृदयमें हर्ष हुआ। भरतजीको (बारम्बार) 'तुम धन्य हो! धन्य हो!' कहकर देवता प्रसन्न होकर फूल बरसाते हैं॥ २०५॥

पु० रा० कु०—१ (क) *'माँझ त्रिबेनी।'* त्रिवेणीके मध्यमें सरस्वती विराजमान हैं ही, अतएव *'माँझ'* शब्द बड़ा उत्तम है। सरस्वतीजी ही बोलीं। (ख) *'तुम्ह सब बिधि साधू'''* अर्थात् स्वयं सन्मार्गवर्त्ती हो और पराये कार्यके साधक हो, मन-कर्म-वचन सब प्रकारसे साधु हो। अनुराग *'अगाधू'* अर्थात् अथाह है; गुरु, निषादराज, लक्ष्मणजी, जनकमहाराज, देवगण इत्यादि किसीको थाह न मिली। यहाँ ☞ *'तुम्ह सब बिधि साधू'* कहकर जनाया कि तुम्हारा जन्म धन्य है, जीवन सफल है; क्योंकि *'साधु समाज न जाकर लेखा। रामभगत महँ जासु न रेखा॥ जाय जियत जग सो महि भारू।'* (१९०। ७।८) जिनमें ये लक्षण हों वे ही धन्य हैं। तुममें दोनों लक्षण (कहनी रहनी सब साधुकी है। रा० प्र०)

नोट—१ *'बादि गलानि करहु'''* इति। अपने ऊपर कुटिलता और गुरुस्वामि-द्रोहका आरोपण करना ही ग्लानि है। इसीके निराकरणार्थ कहा कि *'सब बिधि साधू'* हो, कुटिल नहीं हो, न गुरुस्वामिद्रोही हो; अतः व्यर्थ ही ग्लानि करते हो। ग्लानिका कारण ही नहीं है, उसे छोड़ो। पहले कहा कि तुम्हारा श्रीरामचरणमें अगाध प्रेम है, यह भी साधुका लक्षण है, पर इससे यह न समझो कि श्रीरामजी तुम्हें न चाहते होंगे—*'तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं'* जितना तुमपर उनका प्रेम हैं ऐसा किसीपर नहीं। —इस प्रकार जो वचन उन्होंने ग्लानिके कहे थे, उनका उत्तर देकर ग्लानि दूर की।

नोट—२ *'धन्य कहि धन्य सुर'''।'* 'धन्य-धन्य' में आदरकी वीप्सा है। सरस्वतीजी मृदु वाणीसे बोली थीं। देवताओंने उच्च स्वरसे धन्यवाद दिया। दोनोंके मुखसे भरतजीकी रामभक्ति सिद्ध हुई।

त्रिवेणीने यह कहकर कि *'तुम्ह सब बिधि साधू। रामचरन अनुराग अगाधू॥ तुम्ह सम रामहिं प्रिय कोउ नाहीं॥'* जना दिया कि जो तुम माँगते हो वह सब तुममें है, इससे अधिक कोई क्या दे सकता है? यही कहकर मानो अपनी वाणीको सरस्वतीने सफल किया।

प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी॥ १॥
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा। भरत सनेहु सीलु सुचि साँचा॥ २॥
सुनत राम गुनग्राम सुहाए। भरद्वाज मुनिबर पहिं आए॥ ३॥
दंड प्रनामु करत मुनि देखे। मूरतिमंत* भाग्य निज लेखे॥ ४॥
धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हें। दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हें॥ ५॥

* 'मूरतिवंत'।

शब्दार्थ—'**दसपाँच**'—मुहावरा है। **सीलु**=शिष्टाचार।

अर्थ—तीर्थराज प्रयागमें रहनेवाले वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और विरक्त संन्यासी बड़े प्रसन्न हैं॥ १॥ दसपाँच मिलकर आपसमें कहते हैं कि श्रीभरतजीका प्रेम और शील पवित्र और सच्चा है॥ २॥ श्रीरामजीके सुन्दर गुण-समूह सुनते हुए वे मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीके पास आये॥ ३॥ श्रीभरतजीको प्रणाम करते हुए मुनिने देखा तो अपने भाग्यको मूर्तिमान् समझा* अर्थात् उन्हें देखकर अपनेको धन्य माना, सोचा कि यह तो हमारे भाग्य ही मानो मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गये हैं॥ ४॥ और दौड़कर उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। आशीर्वाद देकर उन्हें कृतकृत्य, संतुष्ट, सफल मनोरथ किया॥ ५॥

नोट—१ *'प्रमुदित तीरथराज निवासी।'''* इति। देववाणी सुनकर सब श्रीभरतजी तथा उनके प्रेमको जान गये और भरतजीकी दशा देखकर एवं दर्शन पाकर बड़े ही आनन्दित हैं। तीर्थराजनिवासीसे चारों वर्णोंके लोगोंको और वैखानस, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और संन्यासीसे चारों आश्रमवालोंको आनन्द होना जनाया। चारों दर्शनको आये थे, इसीसे क्रमका विचार नहीं किया गया। अथवा, छन्दके अनुरोधसे क्रमभंग करके प्रथम ***'बैखानस'*** को लिखा। (पु० रा० कु०, प० रा० प्र०)

नोट—२ *'कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा।'''* इति। (क) दसपाँच उपलक्षण है, कहीं दस कहीं पाँच (पु० रा० कु०) वा, कुछ-कुछ लोग प्राय: दससे अधिक नहीं प्रत्येक वर्ण और आश्रमके दस-दस पाँच-पाँच लोग मिलकर आपसमें कहते हैं। (ख) *'सनेहु सीलु सुचि साँचा।'* यहाँ यथासंख्यालङ्कारसे अर्थ होता है कि प्रेम पवित्र है और शील सच्चा है अर्थ, काम, मोक्ष कुछ नहीं चाहते। इससे पवित्र और निश्छल प्रेम कहा, यथा—*'सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥'* (३०१। ३) शील-स्वभाव सच्चा है इसीसे धर्मनीतिके सब गुण इनसे भूषित हो रहे हैं, धर्मरूपी धरणीको स्वभावसे ही धारण किये हैं, यथा—*'जो न होत जग जनम भरत को। सकल धरमधुर धरनि धरत को॥'* (२३३। २) अथवा दोनों ही पवित्र और सच्चे हैं। (पु० रा० कु०) त्रिबेणी तथा देवताओंकी वाणी असत्य नहीं हो सकती। देवता झूठ नहीं बोलते। अत: वे कहते हैं कि इनका शील (साधु-स्वभाव) तथा प्रेम दोनों पवित्र और सच्चे हैं।

नोट—३ *'सुनत रामगुन ग्राम सुहाए।'''* इति।—पूर्व रामयश कथन नहीं लिखा गया, केवल भरतजीकी प्रशंसा किये जानेका उल्लेख है। और यहाँ लिखते हैं कि *'सुनत राम गुन ग्राम।'* पूर्वापरका मिलान यों किया जाता है कि (क)—एक जगह एक बात और दूसरी जगह दूसरी बात देकर जना दिया कि दोनोंके गुणोंका वर्णन साथ-साथ लोग कर रहे हैं। श्रीभरतजी रामरंगमें रँगे हैं, वे अपनी प्रशंसापर कान नहीं देते, रामयश सुनते जाते हैं। (पं०) वा, (ख) भरतजी रामरंगमें रँगे हैं, वे अपनी प्रशंसाको भी श्रीरामजीका ही यश समझते हैं, इसमें प्रभुकी कृपा, अनुकम्पा, सुशीलता, भक्तवत्सलता आदि गुणोंको ही अपनी बड़ाईका कारण मानते हैं, यथा—*'हौं तो सदा खर को असवार तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो'* (श्रीरूपकलाजी, वै०)। वा, (ग) त्रिवेणी तटपर ठौर-ठौर रामचरित हो रहा है, उसे सुनते हैं—(वै०, राम० प्र०)।

नोट—४ *'दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हें'* का *'कृतारथ कीन्हें'* दो तर्फी है, भरतजीको एवम् अपने और अपने आशीर्वादको कृतार्थ किया। यथा—*'सफल होन हित निज बागीसा।'* (वै०, रा० प्र०)

आसनु दीन्ह नाइ सिरु बैठे। चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे॥ ६॥
मुनि पूछब कछु एह बड़ सोचू। बोले रिषि लखि सीलु सँकोचू॥ ७॥
सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि करतब पर किछु न बसाई॥ ८॥

* भाग्य उपमान, भरत उपमेय हैं। उपमानका गुण उपमेयमें स्थापित किया गया। 'दूसरी निदर्शना' है।

दो०—तुम्ह गलानि जिय जनि करहु समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति॥ २०६॥
यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोकु बेदु बुध संमत दोऊ॥ १॥

शब्दार्थ—'*धूति*'=चलायमान करके, छलकर वा ठगकर। 'धूतना'=धूर्तता करना, धोखा देना, ठगना, यथा—'*तुलसी रघुबर सेवकहि सकहि न कलियुग धूति*', '*तुलसी गरीब की गई बहोर रामनाम जाहि जपि जीह रामहूँ को बैठो धूति हौं।*' (क० ७। ६९)।

अर्थ—मुनिने आसन दिया। वे मुनिको मस्तक नवाकर सिर नीचा करके बैठ गये। वे ऐसे देख पड़ते हैं मानो वे सङ्कोचरूपी घरमें भागकर जा बैठना चाहते हैं। अर्थात् उनको बड़ा ही सङ्कोच और लज्जा है॥ ६॥ उनको बड़ा भारी सोच यह है कि मुनि कुछ पूछेंगे (तो मैं क्या उत्तर दूँगा)। उनके शील और सङ्कोचको लखकर ऋषिजी बोले—॥ ७॥ हे भरत! सुनो, हमें सब खबर मिल चुकी है। विधाताकी करनीपर कुछ जोर नहीं चलता॥ ८॥ तुम माताकी करनी समझकर मनमें ग्लानि मत करो। हे तात! कैकेयीका दोष नहीं। सरस्वती उसकी बुद्धि ठग ले गयी॥ २०६॥ यह भी कहते हुए कोई भला न कहेगा। लोक और वेद दोनों '*बुध संमत*' हैं। (पण्डित लोगोंको लोक और वेद दोनों ही मान्य हैं)॥ १॥

नोट—१ '*चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे*' इति।—यहाँ सिर झुकाये (मारे सङ्कोचके) बैठना उत्प्रेक्षाका विषय है। सिर झुकाये नहीं बैठे हैं मानो सङ्कोचरूपी घरमें भागकर घुस बैठना चाहते हैं। यह 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। सङ्कोचका कारण आगे कहते हैं—'*मुनि पूछब कछु*'। यही बड़ा सोच है कि पूछेंगे तो क्या जबाब दूँगा? क्या पूछेंगे इसपर लोगोंने अपना-अपना अनुमान लिखा है। यथा—(क) किस अपराधसे वन दिया? (पु० रा० कु०)। (ख)—माताकी करनीका वृत्तान्त कि यह बात कैसे उठी—(पं०) इत्यादि। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीरामजीमें प्रेम होनेसे एवं भरतजीकी कीर्ति बढ़ानेके लिये भरद्वाजजीने उनसे प्रश्न किये थे कि—'तुम तो राजा हुए हो यहाँ क्यों आये? अकंटक राज्य करनेकी इच्छासे तुमने राम या लक्ष्मणके प्रति कुछ अनिष्ट तो नहीं विचार किया है?' अ० रा० में भरद्वाजजीने पूछा है कि 'राज्यशासन करते हुए तुम वल्कलादि धारणकर इस तपोवनमें कैसे आये हो?' उन्हीं प्रश्नोंको सूचित करनेके लिये यहाँ कविने '*मुनि पूछब कछु*' पद देकर सब आशय वाल्मीकिजीका भी प्रकट कर दिया। उत्तरमें वहाँ भरतजीने कहा कि सर्वज्ञ होकर आप ऐसा कहते हैं तो हमारा जन्म ही व्यर्थ गया। (वा० सर्ग ९०, श्लोक० १०—२१)। मुनि सर्वज्ञ हैं, इसी बातको लेकर कविने परीक्षाकी बातें इतनेमें ही टाल दी। पुनः, अन्तमें जब माताएँ चलनेके समय प्रणाम करने गयीं तब मुनिने पूछा कि तुम्हारी माता कौन है? उसका लक्ष्य लेकर '*सोचू*' कहा—हम कैसे कहेंगे कि यह हमारी माता है। पुनः घरका दुश्चरित कहना धर्मनीतिमें मना है। (पु० रा० कु०)

वीरकवि—भरतजीने कुछ कहा नहीं। मुनिजी इस छिपे हुए वृत्तको समझ गये और विधिकी करनीपर ढारकर उन्हें समझाने लगे—'पिहित अलङ्कार' है। परन्तु पिहितमें क्रियाद्वारा समाधान होता है, यहाँ मुनिजी वचनद्वारा समाधान करते हैं। इसलिये यहाँ गूढ़ अभिप्रायसहित उत्तर देना कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर अलङ्कार' है।

नोट—२ '*तुम्ह गलानि जिय जनि*""' इति। (क) भरतजीको माताकी करनीके कारण ग्लानि है, इसीसे मुनि उसे निर्दोष करार देते हैं जिसमें इनकी ग्लानि दूर हो। सबके सामने यह कहा जिसमें कोई भी दोष न दे और भरतजीकी भी सफाई हो जाय। '*गिरा मति धूति*' का भाव कि भावी, होनहार वा दैवाधीन जो कार्य होता है वह टलता नहीं, उसमें किसीका वश क्या? यथा—'*मोरिउ कछु न बसाई*', '*होइहि सोइ जो राम रचि राखा*'। वैसे ही कैकेयीने परवश यह किया तब उसका दोष क्या? (ख) '*तात कैकइहि दोसु नहिं गई गिरा मति धूति*' इति। पूर्व केवल मन्थराकी मतिका फेरा जाना कहा है, यथा—'*अजस पेटारी*

ताहि करि गई गिरा मति फेरि' (१२) और यहाँ कैकेयीकी मतिका छला जाना कहते हैं। कैकेयीकी मति मन्थराके साथ ही फिरी होती तो कैकेयी यह कदापि न कहती कि ***'प्रान ते अधिक राम प्रिय मोहीं।'*** *'होहु रामसिय पूत पतोहू'* इत्यादि। कैकेयी-मन्थरा-संवादमें ही आगे कहा है कि ***'सुरमायाबस बैरिनिहि सुहृद जानि पतियानि।'*** (१६) अतएव पूर्वापरका समानाधिकरण यों हो सकता है कि सरस्वतीने मन्थराकी मति फेरी और मन्थराद्वारा कैकेयीकी मति फिरी। इस तरह गिराका ही मति फेरना कहा गया। जैसे शिवजीने लोमशजीको रामचरित दिया, लोमशजीने भुशुण्डिजीको और इस क्रमसे शिवजीका ही भुशुण्डिजीको देना कहा गया—*'सो सिव कागभुशुण्डिहि दीन्हा।'* या यों समझ लें कि सुरमाया सरस्वती माया है इसने अपनी माया कैकेयीपर पीछे डाल दी हो। दोहा १६ में देखिये। (ग) मिलान कीजिये—**'वत्स ज्ञातं पुरैवैतद्भविष्यं ज्ञानचक्षुषा। मा शुचस्त्वं**…' (अ० रा० २। ८। ५३)। ज्ञानचक्षुसे सब बातें मैं पहले ही जान गया। तुम शोक न करो।

नोट—३ *'यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ*…*'* इति। भाव कि जो हमने कहा कि कैकेयी निर्दोष है, ग्लानि न करो; इससे यह आशय निकलता है कि वह दोषी होती तो ग्लानि करना उचित था सो इसे भी कोई अच्छा नहीं कहेगा। और यदि सरस्वतीको दोष दें तो भी कोई भला न कहेगा क्योंकि वह भी तो ईश्वराधीन है, स्वामीकी जो इच्छा होगी वही उसका कर्त्तव्य है। अतएव न तुम्हारा कोई दोष है न सरस्वतीका, कैकेयी दूषित होती तो भी तुम तो पाक ही हो। किसीका दोष नहीं (न तुम्हारा, न सरस्वतीका), यह हरि-इच्छा ही थी, पण्डित लोग लोक और वेद दोनों मानते हैं—कैकेयी दोषी हो वा निर्दोष तुम दोनों हालतोंमें पाक हो। तुम्हारा तो यश गाकर लोक और वेद दोनों बड़ाई पावेंगे, तब तुममें दोषारोपण कभी भी कोई कैसे कर सकता है? (पु० रा० कु०) 'लोक और वेद दोनों बुधसम्मत हैं' इस कथनका भाव यह है कि यद्यपि वेदमतसे कैकेयी निर्दोष है पर लोकमतसे नहीं। (रा० प्र०) मयङ्ककार लिखते हैं कि 'शारदा मति फेर गयी अतः कैकेयीका दोष नहीं' यह सुनकर अवधवासियोंका रुख बदल गया, वे रुखसे बेरुख हो गये कि ये दोषीको निर्दोष बताते हैं। मुनिने इसे लख लिया तब आगे यह कहा कि इस वचनको भी कोई भला न कहेगा, यद्यपि वेद और बुधमतसे कैकेयी निर्दोष है; परन्तु वह लोकमें सदोष है; इस वचनसे निर्दोषिताका लोप किया और सदोष सिद्धकर लोगोंको सुख दिया।

वै०—लोकरीतिसे बुद्धिमान् कैकेयीका दोष कहते हैं कि यह नीच कुबरीके बहकानेमें क्यों आयी और वेदरीतिसे वे इसे निर्दोष और सरस्वतीको दोषी कहते हैं। पर ये दोनों सम्मत भी कहनेपर कोई-कोई इन्हें भी भला नहीं कहते अर्थात् इन्हें भी यथार्थ नहीं मानेंगे क्योंकि *'राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥'* अर्थात् दूसरा तो कोई करनेवाला है ही नहीं तब किसीका भी दोष क्या?

तात तुम्हार बिमल जसु गाई। पाइहि लोकउ बेद बड़ाई॥ २॥
लोक बेद संमत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥ ३॥
राउ सत्यब्रत तुम्हहिं बोलाई। देत राजु सुख धरमु बड़ाई॥ ४॥
राम गवनु बन अनरथ मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला॥ ५॥
सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहु पछितानी॥ ६॥
तहउँ तुम्हार अलप अपराधू। कहइ सो अधमु अयान असाधू॥ ७॥

शब्दार्थ—'अयानी'=अजान, बुद्धिहीन, अज्ञानी, यथा—*'रानी मैं जानी अयानी महा पबि पाहनहू ते कठोर हियो है।'*

अर्थ—हे तात! तुम्हारा निर्मल यश गाकर लोक और वेद भी बड़ाई पावेंगे*॥ २॥ लोक और वेदका यह सम्मत है। सब कहते हैं कि पिता जिसे राज्य दे वही पाता है॥ ३॥ राजा सत्यप्रतिज्ञ थे, वे तुमको बुलाकर राज्य देते (इससे दोनोंको) सुख, धर्म और बड़ाई होती॥ ४॥ रामवनगमन ही अनर्थकी जड़ है जिसे सुनकर सारे संसारको पीड़ा हुई॥ ५॥ वह भी हरि-इच्छावश हुआ। रानी अज्ञानी हो गयी। कुचाल करके अन्तमें पछिताई (क्योंकि उसके भी शोक ही हाथ लगा, उसका सब किया व्यर्थ ही हुआ)॥ ६॥ वहाँ (उस सम्बन्धमें) भी जो तुम्हारा जरा-सा भी अपराध कहे वह नीच, अज्ञानी और असाधु है॥ ७॥

नोट—१ *'पाइहि लोकउ बेद बड़ाई'* इति। कैसे पावेंगे यह आगे दोहेतक विस्तारपूर्वक कहा है। अर्थात् तुमको राज्य मिला इसमें सब सहमत हैं। पर यह श्रीरघुनाथजीके (परमधर्मके) प्रतिकूल है। इससे तुमने उसका त्याग किया, यह यश गाकर दोनों क्यों न बड़ाई पावें? (रा० प्र०) इससे जनाया कि तुम्हारी क्रिया लोक-वेदसे भी ऊपर है, भिन्न है। (पु० रा० कु०)

नोट—२ *'देत राजु सुखु धरमु बड़ाई'* इति। भाव कि—सत्यव्रत हैं उसके निर्वाहके लिये बुलाकर राज्य देते तो धर्म भी रहता और सुख और बड़ाई भी होती अर्थात् सब कहते कि पूर्वसे प्रतिज्ञाबद्ध थे उन्होंने ठीक किया। (बै०) वा तुमको बुलाकर राज्यसुख देते तो धर्मकी बड़ाई ही होती। (रा० प्र०), वा राज्यसुख देते, इससे तुम्हारी और राजा दोनोंकी धर्ममें प्रशंसा ही होती। इसमें उनके धर्मकी बड़ाई होती थी, कुछ अधर्म न था और तुमको भी सुख होता, धर्म भी रहता और बड़ाई भी थी, दोष नहीं था। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'रामगवनु बन अनरथ मूला…'*। पु० रा० कु०—कैकेयीने स्वयं कहा है कि ***'कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ'*** कि राजाकी मृत्यु हुई। वनगमनसे यह अनर्थ हुआ, और जड़-चेतन सभीको शोक हुआ, नहीं तो तुम्हें बुलाकर राज्य देते ही।

नोट—४ *'सो भावी बस…'* इति। (क) पहले विधातापर दोष धरा—*'बिधि करतब पर कछु न बसाई'* फिर सरस्वतीपर—*'गई गिरा मति धूति'* फिर लोकमतमें कैकेयीपर—*'यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ'*। सिद्धान्तमें भावीपर दोष रखा—*'सो भावी बस रानि अयानी।'* (रा० प्र०)

नोट—५ *'तहउँ तुम्हार अलप अपराधू। कहइ…'* इति। अर्थात् भावीवश कैकेयीने कुचाल की, पर उस कुचालमें तुम्हारा किञ्चित् भी सम्मत नहीं था। जो सम्मत कहे वह अधम…है। अधम अर्थात् नीच तमोगुणी राक्षसोंके समान, अज्ञानी और असाधु असत्-मार्गी। भाव यह है कि वह उत्तम पुरुषों, ज्ञानियों और सन्मार्गवर्त्तियोंमें बैठने न पावेगा। अथवा, मनुष्योंमें अधम, ज्ञानियोंमें अज्ञानी और साधुओंमें असाधु माना जायगा। वा, कर्मकाण्डसे अधम, ज्ञानमें अज्ञानी, उपासनामें असाधु है। वा, त्रिवाचा कहा। (पु० रा० कु०)

करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू॥ ८॥
दो०—अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥ २०७॥
सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरि भाग को तुम्हहिं समाना॥ १॥
यह तुम्हार आचरजु न ताता। दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता॥ २॥

अर्थ—यदि तुम राज्य करते तो तुम्हें दोष न होता, सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको संतोष होता॥ ८॥ और अब तो हे भरत! तुमने बहुत ही अच्छा किया। यह मत तुम्हारे योग्य ही है। रघुवरचरणमें प्रेम

* 'जो यश गायेगा वह लोकवेद दोनोंमें बड़ाई पावेगा'—(पु० रा० कु०)